

# नूपुर - 2017

स्वामी नित्यात्मानन्द जी महाराज के  
124वें जन्मोत्सव पर  
स्मारिका-रूप में कतिपय 'नूपुर'



**श्री रामकृष्ण श्री म प्रकाशन ट्रस्ट**  
( श्री म ट्रस्ट )

कार्यालय : 579, सैक्टर 18-बी, चण्डीगढ़ 160 018  
फोन 0172-2724460

मन्दिर : श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत पीठ ( श्री पीठ )  
सैक्टर 19-डी, चण्डीगढ़ 160019

website : <http://www.kathamrita.org>  
email : [srimatrust@yahoo.com](mailto:srimatrust@yahoo.com)

आवरण चित्र :

“यहाँ से एक स्रोत यदि बहे, तब तो फिर सुन्दर हो जाए। उस स्रोत के आकर्षण से सब तैर जाएँगे।..”

— श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, 5 अक्टूबर, 1884

— 4:22:4

© श्री म ट्रस्ट  
जून, 2017

- सम्पादन : डॉ० (श्रीमती) निर्मल मिश्र  
डॉ० नौबतराम भारद्वाज  
सन्दीप नांगिया
- प्रकाशन : अध्यक्ष  
श्री रामकृष्ण श्री म प्रकाशन ट्रस्ट (श्री म ट्रस्ट)  
579, सैक्टर 18-बी, चण्डीगढ़ 160 018  
फोन - 0172-2724460
- मुद्रण : Click Print Shoppe  
Sector-17, Chandigarh.
- आवरण : तस्वीर : प्रशान्त करंटीकर  
फोटो एडिटिंग : प्रदीप दासगुप्त

## समर्पण

कथामृतकार श्री 'म' की सेवक-सन्तान  
स्वामी नित्यात्मानन्द जी महाराज को  
जो  
श्री म दर्शन-ग्रन्थमाला के माध्यम से  
श्रीरामकृष्ण-कथा को,  
कथामृत में कही-अनकही ठाकुर-वाणी को  
हम तक लाए।

## ‘नूपुर’ नाम क्यों ?

ठाकुर दक्षिणेश्वर में नरेन्द्र, भवनाथ आदि भक्तों के संग में हैं।  
ठाकुर गाना गा रहे हैं—

बोल रे श्रीदुर्गा नाम।

(ओरे आमार आमार आमार मन रे)।

...

यदि बोलो छाड़ो-छाड़ो मा, आमि ना छाड़िबो।

बाजन नूपुर होये मा तोर चरणे बाजिबो ॥\*

दीदी जी (श्रीमती ईश्वरदेवी गुप्ता) कहा करतीं कि ठाकुर-वाणी का अक्षर-अक्षर है ‘नूपुर’। इन ‘नूपुरों’ की झंकार से सब पाठक ठाकुर का शुद्ध प्यार पाएँ, इस अभिलाषा से ही उन्होंने अपने गुरु महाराज के 101वें जन्म-दिन पर सन् 1994 में स्मारिका-रूप में वार्षिक पत्रिका का प्रारम्भ ‘नूपुर’ नाम से किया था। उनका विश्वास था कि ठाकुर-वाणी के पठन-श्रवण-मनन और पालन से व्यक्ति स्वयं बन जाता है माँ के चरणों का ‘नूपुर’।

\* ओ मेरे मन, तू दुर्गा-दुर्गा नाम बोल। ... यदि कहो छोड़, छोड़, किन्तु मैं नहीं छोड़ूँगा।  
हे माँ, मैं तेरे चरणों का नूपुर बनकर बजूँगा।]

## अनुक्रमणिका

निवेदन	...	7
1 श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत में श्री 'म' के प्रथम चार दर्शन—		
● प्रथम दर्शन	...	21
● द्वितीय दर्शन	...	25
● तृतीय दर्शन	...	34
● चतुर्थ दर्शन	...	45
2 <b>First four Visits of M.</b> in The Gospel of Sri Ramakrishna		
● First Visit	...	53
● Second Visit	...	58
● Third Visit	...	68
● Fourth Visit	...	83



## श्री 'म' ट्रस्ट

श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत के प्रणेता श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, बाद में मास्टर महाशय वा श्री 'म' (M.) के नाम से विख्यात हुए।

इन्हीं श्री म के अन्तरंग शिष्य थे स्वामी नित्यात्मानन्द जो 'श्री म दर्शन' ग्रन्थमाला के प्रणेता हैं। और वे ही हैं श्रीरामकृष्ण श्री म प्रकाशन ट्रस्ट (श्री म ट्रस्ट) के संस्थापक।

अपने जीवन में ठाकुर-वाणी का पालन व प्रचार-प्रसार करने वाले श्री 'म' के पास दीर्घकाल तक रहकर स्वामी नित्यात्मानन्द जी को विश्वास हो गया था कि जगत् के सकल काम-काज करते हुए भी मन से ईश्वर के साथ रहा जा सकता है और यही है शाश्वत शान्ति तथा परमानन्द का सहज, सरल उपाय। परमानन्द की प्राप्ति ही है मनुष्य-जीवन का एकमात्र उद्देश्य। इसी परमानन्द की प्राप्ति जन-जन को हो, इस उद्देश्य से स्वामी नित्यात्मानन्द जी महाराज ने अपने प्रथम गुरु श्री 'म' की स्मृति में 12 दिसम्बर सन् 1967 को श्री 'म' ट्रस्ट (श्रीरामकृष्ण श्री 'म' प्रकाशन ट्रस्ट) को रोहतक में रजिस्टर करा दिया था जो बाद में चण्डीगढ़ ले आया गया। तब से लेकर आज तक ठाकुर-कृपा से ठाकुर-वाणी के प्रचार-प्रसार का कार्य निरन्तर चल रहा है और आगे बढ़ रहा है।

श्री 'म' ट्रस्ट से जुड़े ठाकुर-भक्तों/सेवकों पर ठाकुर इसी तरह अपना शुद्ध प्यार बनाए रखें, यही उनके श्री चरणों में प्रार्थना है।

— अध्यक्ष, श्री 'म' ट्रस्ट

## निवेदन

इस बार के नूपुर का विषय है : 'श्री 'म' के प्रथम चार दर्शन' अर्थात् श्री 'म' की ठाकुर रामकृष्ण के साथ हुई प्रथम चार मुलाकातों।

श्री महेन्द्रनाथ गुप्त वा मास्टर महाशय वा श्री 'म' ने 26 फरवरी, 1882 को ठाकुर श्रीरामकृष्ण के प्रथम बार दर्शन किए थे। संसार-ताप से तप्त, गृहस्थ के नानाविध कष्टों के कारण अवसादग्रस्त हुए 27 वर्ष के श्री 'म' अन्य कोई उपाय न पा देहत्याग की भावना से घर से निकल पड़े थे। सुयोग उन्हें ले आया ठाकुर रामकृष्ण के पास। और प्रथम दर्शन में ही, ठाकुर के साथ हुई प्रथम मुलाकात में ही ठाकुर-दर्शन से, ठाकुर-वाणी से वे इतने प्रभावित हो गए कि वे ठाकुर के पुनः पुनः दर्शनों के लिए व्याकुल रहते।

ठाकुर के साथ हुई श्री 'म' की प्रथम चार मुलाकातों ने ही श्री 'म' का जीवन बदल दिया। देह-त्याग का भाव मन से जाता रहा और उन्हें मनुष्य-जीवन का लक्ष्य क्या है, यह समझ में आ गया। उन्हें समझ में आ गया कि यह संसार तो सदा से ही स्वरूपतः 'ज्वलन्त अनल' है और आगे भी ऐसा ही रहेगा।

ठाकुर से मिलने के बाद भी श्री 'म' की घरेलू स्थितियाँ, परिस्थितियाँ तो वही रहीं। वे नहीं बदलीं। हाँ, बदल गई श्री 'म' की दृष्टि, उनकी मानसिकता। घर-परिवार, संसार के दुःख-कष्ट अब उन्हें वैसे सताते नहीं थे। ठाकुर-वाणी के श्रवण, फिर उस पर मनन और फिर उसके पालन से श्री 'म' का जीवन हो गया था सुखमय, आनन्दमय।

ठाकुर सदा कहते : 'ईश्वर-दर्शन ही मनुष्य-जीवन का सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य है'। द्वितीय दर्शन में ही श्री 'म' के पूछने पर ठाकुर ने उन्हें समझा दिया था कि गृहस्थ में रहते हुए भी ईश्वर-दर्शन, ईश्वर-लाभ सम्भव है। कैसे?— यह सब भी ठाकुर ने अति सरल शब्दों में, नित्यप्रति के जीवन के उदाहरणों से समझा दिया था। ठाकुर से समुचित उत्तर पाकर श्री म सन्तुष्ट हुए थे।

प्रत्येक व्यक्ति चाहता है मैं सुख से रहूँ। वह सोचता है धन-सम्पदा, पद, पति-पत्नी, पुत्र आदि उसे सुख दे सकते हैं। इसीलिए वह जीवन भर इन्हें जुटाने का प्रयास करता रहता है। परन्तु ये सकल सांसारिक पदार्थ क्षणिक हैं, अस्थायी हैं, अतः व्यक्ति को अस्थायी सुख ही दे सकते हैं। परिस्थितियाँ अनुकूल रहीं तो सुख, प्रतिकूल हुई तो दुःख। इनसे व्यक्ति शाश्वत आनन्द, स्थायी आनन्द, परमानन्द नहीं पा सकता। जबकि प्रत्येक परिस्थिति में मिलने वाला, बना रहने वाला आनन्द ही स्थायी आनन्द, शाश्वत आनन्द है। और शाश्वत आनन्द की प्राप्ति ही है मनुष्य का लक्ष्य।

यह स्थायी आनन्द कैसे मिले? कहाँ से मिले? श्री 'म' का उदाहरण हमारे सामने है। गुरु रूप में मिले जिन ठाकुर श्रीरामकृष्ण ने श्री 'म' के जीवन का मोड़ ही घुमा दिया, उन्हीं की वाणी तो है 'श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत' में।

ठाकुर श्रीरामकृष्ण से हुआ अपना वार्तालाप, उस समय वहाँ कौन-कौन हैं, ठाकुर क्या कर रहे हैं, वहाँ का परिवेश क्या है इत्यादि समस्त बातें श्री 'म' डायरीबद्ध करते रहे। पीछे इन्हीं डायरियों के आधार पर एवं अपनी तीव्र स्मरण शक्ति से श्री 'म' ने बंगला भाषा में 'श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत' की रचना की पाँच भागों में। इसमें वर्णित ठाकुर-वाणी से लोगों के मन-प्राण शीतल होने लगे। इस कारण 'कथामृत' इतनी लोकप्रिय हो गई कि अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद होने लगा।

हिन्दी में महाकवि निराला द्वारा अनूदित होकर इस बंगला कथामृत का 'श्री श्रीरामकृष्ण वचनमृत' नाम से प्रकाशन हुआ। बाद में यह



श्री 'म' ट्रस्ट द्वारा बंगला से हिन्दी में और फिर इस हिन्दी से अंग्रेज़ी में अक्षर-अक्षर अनुवाद होकर अपने मूल नाम 'श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत' से ही पाँच भागों में प्रकाशित हुई।\*

श्री 'म' की भाँति ही संसार के प्रत्येक प्राणी को निराशा से, अवसाद से मुक्ति मिले और ठाकुर-वाणी के पठन-श्रवण, मनन और फिर पालन से वह सुखपूर्वक रह सके और साथ ही अपने सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य— ईश्वर दर्शन वा ईश्वर-लाभ की ओर निरन्तर आगे बढ़ सके, इसी आशा-अभिलाषा से ठाकुर के साथ हुए श्री 'म' के प्रथम चार दर्शन— हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में इस बार के नूपुर में दिए जा रहे हैं। सुखद जीवन व्यतीत करने के लिए तथा अपने गन्तव्य की ओर निरन्तर अग्रसर होने के लिए किसी भी व्यक्ति को जो चाहिए, वह सारांश रूप में, सारगर्भित रूप में इन चार दर्शनों में उपलब्ध है।

ये प्रथम चार दर्शन हिन्दी में श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, प्रथम भाग, श्री 'म' ट्रस्ट प्रकाशन, 1998 संस्करण में से तथा अंग्रेज़ी में स्वयं श्री 'म' द्वारा रचित The Gospel of Sri Ramakrishna, संस्करण 1911 में से हैं।

ॐ श्रीरामकृष्णार्पणमस्तु!!

— डॉ० (श्रीमती) निर्मल मित्रल

\* श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत का बंगला से हिन्दी में अनुवाद किया 'ट्रस्ट' की द्वितीय प्रधान श्रीमती ईश्वरदेवी गुप्ता ने और इस हिन्दी-अनुवाद से अंग्रेज़ी-अनुवाद किया उनके ही पति एवं 'ट्रस्ट' के सचिव प्रो० धर्मपाल गुप्ता ने।



श्रीरामकृष्ण परमहंस  
(18-2-1836 – 16-8-1886)

श्री श्रीरामकृष्ण-कथामृत-प्रणयन हेतु  
माँ व स्वामीजी की  
प्रेरणा एवं  
उनके आशीर्वचन



माँ सारदा

- ♦ जन्म : 22 दिसम्बर, सन् 1853 ईसवी।
- ♦ स्थान : जयराम बाटी (कामारपुकुर से 4 मील और दक्षिणेश्वर से 60 मील)
- ♦ माता-पिता : श्रीमती श्यामा सुन्दरी और श्री रामचन्द्र मुखोपाध्याय।
- ♦ भाई-बहन : चार छोटे भाइयों की बहन।
- ♦ विवाह : 6-7 वर्ष की अल्पायु में सन् 1859 में 22-23 वर्षीय ठाकुर रामकृष्ण के साथ।
- ♦ दक्षिणेश्वर-वास : प्रथम बार सन् 1872 में गंगा-स्नान के लिए जा रहे यात्री-दल के साथ 60 मील पैदल चल कर दक्षिणेश्वर पहुँचीं। बाद में वे आवश्यकतानुसार कभी दक्षिणेश्वर, कभी जयराम बाटी रहती रहीं। ठाकुर के देहावसान के पश्चात् वे प्रायः कोलकता रहा करतीं।
- ♦ महासमाधि : कोलकता में 21 जुलाई, सन् 1920 ईसवी को रात्रि डेढ़ बजे।



## श्री श्री माँ का आशीर्वाद

बाबा जीवन,

जो उनके निकट सुना है, वही कथा ही सत्य है। इससे तुम्हें कोई भय नहीं है। एक समय उन्होंने ही तुम्हारे पास यह सब कथा रख दी थी। इस समय आवश्यकतानुसार वे ही इसे प्रकाशित करवा रहे हैं। यह निश्चय जानना कि ये सब कथा प्रकाशित न करने से लोगों को चैतन्य होगा ही नहीं। तुम्हारे पास जो समस्त उनकी कथा है, वह सब ही सत्य है। एक दिन तुम्हारे मुख से सुनकर मुझे बोध हुआ कि वे ही वह समस्त कथा बोल रहे हैं।

जयरामवाटी,

27 आषाढ़, 1304 (बंगला) साल।



स्वामी विवेकानन्द

- ◆ घर का नाम : नरेन्द्रनाथ दत्त ।
- ◆ जन्म : 12 जनवरी, सन् 1863 ईसवी ।
- ◆ स्थान : सिमला मुहल्ला, कोलकता ।
- ◆ माता-पिता : श्रीमती भुवनेश्वरी देवी और विश्वनाथ दत्त ।
- ◆ शिक्षा : बी.ए., दर्शनशास्त्र में विशेष रुचि ।
- ◆ गुरु : श्रीरामकृष्ण परमहंस ।
- ◆ बेलूड़ मठ की स्थापना : फरवरी, 1898 ईसवी ।
- ◆ महासमाधि : 4 जुलाई, 1902 ईसवी ।

“Thanks! 1000,000 Master! You have hit Ramakristo in the right point.

“Few alas, few understand him!!

“My heart leaps in joy- and it is a wonder that I do not go mad when I find any body thoroughly launched into the midst of the doctrine which is to shower peace on earth hereafter”

Antpore<sup>1</sup>

Feb. 7, 1889.

— Narendranath

(Swami Vivekananda)

### हिन्दी अनुवाद

“मास्टर महाशय, कोटि-कोटि धन्यवाद! तुमने रामकृष्ण को सही पकड़ा है।

ओह, उन्हें बहुत कम जन समझ पाए हैं!

“मेरा हृदय खुशी से नाच रहा है... और आश्चर्य है कि मैं पागल नहीं हो जाता जब मैं किसी भक्त को ठाकुर के सिद्धान्तों में सम्पूर्ण रूप में डूबा हुआ देखता हूँ, जिनके माध्यम से आने वाले समय में पृथ्वी पर अमृतमय सुख-शान्ति की सुखद वर्षा होगी।”

अन्तपुर<sup>2</sup>

7 फरवरी, 1889 ईसवी

— नरेन्द्रनाथ

(स्वामी विवेकानन्द)

1 Antpore is a village in Hooghly district, the birth place of Swami Premananda. The Swamiji and many of his fellow-disciples were at that time staying as guests at the house of Swami Premananda (Baburam).

2 अन्तपुर— हुगली जिले में अन्तपुर एक गाँव है— स्वामी प्रेमानन्द का जन्म-स्थान। स्वामीजी तथा उनके बहुत से गुरु भाई उस समय स्वामी प्रेमानन्द (बाबूराम) के मकान पर अतिथि-रूप में ठहरे हुए थे।

October, 1897.

c/o  
Lala Hans Raj,  
Rawalpindi.

“Dear M.,

*Cest bon mon ami*— Now you are doing just the thing. Come out man. No sleeping all life. Time is flying. Bravo, that is the way.

“Many many thanks for your publication. Only I am afraid it will not pay its way in a pamphlet form... Never mind— pay or no pay. Let it see the blaze of day-light. You will have many blessings on you and many more curses— but that is always the way of the world, Sir. This is the time.”

—Vivekananda

हिन्दी अनुवाद

अक्टूबर, 1897.

c/o  
लाला हंसराज,  
रावलपिण्डी।

प्रिय ‘म’,

“अब तुम बिल्कुल ठीक कर रहे हो। बाहर आओ भाई! सारा जीवन निद्रा नहीं— समय जा रहा है। शाबाश! यही तो एकमात्र पथ है।

“तुम्हारे प्रकाशन के लिए बार-बार धन्यवाद। मुझे बस यही भय है कि इस पैम्पलेट-आकार से काम नहीं चलेगा।... कोई बात नहीं, चले या न चले, इसे (कथामृत को) प्रकाश में आने दो। तुम्हें अनेक वरदान मिलेंगे और अभिशाप उससे भी अधिक— पर यह तो सदा से जगत् की रीत रही है। यही अवसर है।”

— विवेकानन्द



Dehradun.  
24th November, 1897.

My dear M.,

Many many thanks for your second leaflet. It is indeed wonderful. The move is quite original and never was the life of a great teacher brought before the public untarnished by the writer's mind as you are doing. The language is also beyond all praise— so fresh, so pointed and withal so plain and easy. I cannot express in adequate terms how I have enjoyed them. I am really in a transport when I read them. Strange, isn't it? Our teacher and Lord was so original and each one of us will have to be original or nothing. I now understand why none of us attempted his life before. It has been reserved for you— this great work. He is with you evidently.

With love and namaskar.

Yours in the Lord,  
Vivekananda

P.S. : Socratic dialogues are Plato all over. You are entirely hidden. Moreover, the dramatic part is infinitely beautiful. Everybody likes it, here or in the West.

— Vivekananda

हिन्दी अनुवाद

देहरादून।  
24 नवम्बर, 1987.

मेरे प्रिय 'म',

आपके दूसरे लीफ़्लैट के लिए बार-बार धन्यवाद, बार-बार धन्यवाद। यह वास्तव में विलक्षण है। जो कार्य आपने आरम्भ किया है, वह पूर्णरूप से

मौलिक है। इस से पहले कभी भी किसी महान् शिक्षक का जीवन लेखक की अपनी मान्यताओं के स्पर्श से मुक्त होकर यूँ इस रूप में जनता के सामने प्रकाशित नहीं हुआ, जैसा कि आप कर रहे हैं। भाषा भी प्रशंसातीत है— बहुत ही सरस, हृदय-स्पर्शी, साथ ही सीधी-सादी तथा सरल। मैं इससे कितना और कैसे आनन्दित हुआ हूँ— यह बात व्यक्त करने के लिए मेरे पास उपयुक्त शब्द नहीं हैं। जब भी मैं इसे पढ़ता हूँ, समाधिस्थ हो जाता हूँ। आश्चर्य। नहीं क्या? हमारे गुरु महाराज कितने मौलिक थे! हम में से भी प्रत्येक को मौलिक होना होगा या फिर मिट जाना होगा। अब मैं समझा कि हम में से किसी अन्य ने उनका जीवन-चरित पहले क्यों नहीं लिखा। यह महान् कार्य तो केवल आपके लिए ही सुरक्षित किया हुआ है। वे निश्चय ही आपके साथ हैं।

स्नेह तथा नमस्कार सहित,

गुरु महाराज के श्री चरणों में

— विवेकानन्द

पुनश्च — सुकरात के संवादों में तो सर्वत्र प्लेटो छाया हुआ है परन्तु (ठाकुर के संवादों में) आप बिल्कुल अज्ञात हैं। और फिर नाटकीय अंश तो अतीव सुन्दर हुआ है। सभी ने इसे बहुत सराहा है— यहाँ तथा पश्चिम में।

— विवेकानन्द

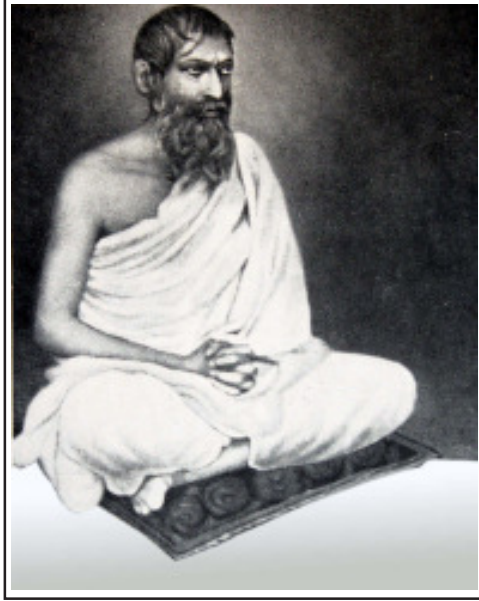
श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत\*

में

श्री 'म' के प्रथम चार दर्शन

---

\* श्री 'म' ट्रस्ट-प्रकाशन



श्री 'म' (मास्टर महाशय)

- ♦ पूरा नाम : श्री महेन्द्रनाथ गुप्त
- ♦ जन्म : शुक्रवार, नाग पञ्चमी, 31वाँ आषाढ़, 14 जुलाई, 1854 ईसवी।
- ♦ स्थान : कोलकता में शिमूलिया मोहल्ले की शिवनारायण दास लेन।
- ♦ माता-पिता : श्रीमती स्वर्णमयी देवी और श्री मधुसूदन गुप्त— वैद्य ब्राह्मण वंश।
- ♦ भाई-बहन : चार भाइयों और चार बहनों में तीसरी सन्तान।
- ♦ विवाह : सन् 1873 में श्रीमती निकुञ्ज देवी के साथ।
- ♦ शिक्षा :
  - ♦ सन् 1867 में आठवीं कक्षा से डायरी लेखन।
  - ♦ हेयर स्कूल से दसवीं की परीक्षा में द्वितीय स्थान।
  - ♦ गणित का एक पेपर न दे सकने पर भी एफ.ए. में 5वाँ स्थान।
  - ♦ सन् 1875 में प्रेज़िडेंसी कॉलेज से बी.ए. में तृतीय स्थान।
  - ♦ पूर्वी और पश्चिमी विद्याओं में निपुणता।
- ♦ गुरु : श्रीरामकृष्ण परमहंस
- ♦ गुरु-लाभ : 26 फरवरी, सन् 1882 को रविवार के दिन।
- ♦ महासमाधि : शनिवार, 4 जून, सन् 1932 ईसवी को प्रातः 5.30 बजे।

प्रथम खण्ड

## दक्षिणेश्वर में ठाकुर श्रीरामकृष्ण

....

### द्वितीय परिच्छेद

तव कथामृतं तप्तजीवनम् कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।

श्रवणमंगलं श्रीमदाततम्, भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः ॥

—श्रीमद्भागवत, गोपीगीता (रास पंचाध्यायी) स्कन्ध 10, श्लोक 9

[हे प्रभो! आपकी कथाएँ अमृतस्वरूप हैं। संसार-ताप से तप्त जीवों के लिए तो वे जीवन स्वरूप हैं। ऋषियों ने, भक्त कवियों ने उनकी स्तुति की है। वे पापों को हरने वाली हैं। वे श्रवणमात्र से मंगलकारी हैं। वे सुन्दर, सुखद तथा बहुत सुविस्तृत हैं। इस संसार में जो उनका बखान करते हैं, वे (ही वस्तुतः) महान् दाता हैं।]

प्रथम दर्शन\*— 1882 फरवरी मास

गंगा-तीर पर दक्षिणेश्वर में कालीबाड़ी। माँ काली का मन्दिर। वसन्तकाल, अंग्रेज़ी 1882 ईसवी का फरवरी का महीना। ठाकुर के जन्मोत्सव के एक दिन पश्चात् श्रीयुक्त केशवसेन और श्रीयुक्त जोसफ़ कुक के संग 23 फरवरी, बृहस्पतिवार को ठाकुर स्टीमर में टहले थे, उसके ही कई-एक दिन पीछे। सन्ध्या हुई कि हुई। मास्टर ठाकुर श्रीरामकृष्ण के कमरे में आकर उपस्थित

\* प्रथम दर्शन 26 फरवरी को, द्वितीय दर्शन— 26 फरवरी और 5 मार्च के मध्य जिस किसी भी दिन हुआ, तृतीय दर्शन— 5 मार्च को और चतुर्थ दर्शन 6 मार्च को लिपिबद्ध है ही।  
—प्रकाशक

हुए। यही है प्रथम दर्शन।

उन्होंने देखा, कमराभर लोग निःस्तब्ध होकर उनका कथामृत-पान कर रहे हैं। ठाकुर तख्तापोश पर पूर्वास्य बैठे हुए सहास्यवदन हरि-कथा कह रहे हैं। भक्तगण ज़मीन पर बैठे हुए हैं।

### ( कर्म-त्याग कब )

मास्टर खड़े हुए अवाक् होकर देख रहे हैं। उन्हें बोध हुआ जैसे साक्षात् शुकदेव भगवत्-कथा कह रहे हैं और वहाँ सर्वतीर्थों का समागम हुआ है। अथवा जैसे श्री चैतन्य पुरी-क्षेत्र में रामानन्द, स्वरूप आदि भक्तों के संग बैठे हुए हैं और भगवान का नाम-गुण-कीर्तन कर रहे हैं। ठाकुर कह रहे हैं—

“जब एक बार हरि वा एक बार राम-नाम करने पर रोमांच हो जाए, अश्रुपात हो जाए, तब निश्चय ही जानो कि सन्ध्या आदि कर्म और नहीं करने पड़ेंगे। तब कर्म-त्याग का अधिकार हो गया है— कर्म अपने आप ही छूटते जाते हैं। तब केवल रामनाम या हरिनाम या शुद्ध ॐकार जप लेने से ही हो जाता है,

और फिर कहा, सन्ध्या गायत्री में लय हो जाती है। गायत्री भी फिर— ॐकार में लय हो जाती है।”

मास्टर सिधु\* के संग बराहनगर में इस बाग से उस बाग में टहलते-टहलते यहाँ पर आ गए हैं। आज रविवार— 26 फरवरी, 15 फाल्गुन— अवकाश है, तभी टहलने आए हैं। श्रीयुक्त प्रसन्न बाँडुज्ये के बाग में कुछ क्षण पहले टहल रहे थे। तब सिधु ने कहा था, “गंगा के तीर पर एक सुन्दर बाग है, उस बाग को देखने चलोगे? वहाँ पर एक परमहंस रहते हैं।”

बाग में सदर फाटक से प्रवेश करके मास्टर और सिधु सीधे ही श्रीरामकृष्ण के कमरे में आ गए। मास्टर अवाक् होकर देखते-देखते सोचते हैं, आहा! कैसा सुन्दर स्थान! कैसा सुन्दर मनुष्य! कैसी सुन्दर कथा! यहाँ से हिलने की इच्छा नहीं होती। कुछ क्षणों पश्चात् मन ही मन में कहने लगे,

\* श्रीयुक्त सिद्धेश्वर मजूमदार, उत्तर बराहनगर में घर।

‘एक बार देख तो लूँ कहाँ पर आया हूँ। तब फिर यहाँ पर आकर बैठूँगा।’

सिधु के संग कमरे के बाहर आते न आते आरती का मधुर स्वर होने लगा। एक साथ कांसर, घण्टा, खोल, करताल बज उठे। बाग के दक्षिण सीमान्त से नहबत का मधुर शब्द आने लगा। यही शब्द भागीरथी के वक्ष पर भ्रमण करता-करता मानो अतिदूर जाकर कहीं पर मिलने लगा। मन्द-मन्द कुसुमगन्धवाही वसन्त अनिल! अब ज्योत्स्ना खिलने लगी। ठाकुरों की आरती का मानो चारों ओर आयोजन हो रहा है। मास्टर ने द्वादश शिवमन्दिर में, श्री श्री राधाकान्त के मन्दिर में, श्री श्री भवतारिणी के मन्दिर में आरती-दर्शन करके परम प्रीति-लाभ किया। सिधु ने बताया, “यही है रासमणि का देवालय। यहाँ पर नित्य सेवा होती है। अनेक अतिथि और कंगाल आते हैं।”

बातें करते-करते भवतारिणी के मन्दिर से होकर बृहत् पक्के आँगन के मध्य से चलते हुए दोनों जने फिर दोबारा ठाकुर श्रीरामकृष्ण के कमरे के सम्मुख आ पहुँचे। इस समय देखा, कमरे का द्वार भिड़ा हुआ है।

अभी-अभी धूना दिया गया है। मास्टर अंग्रेज़ी पढ़े हुए हैं, कमरे में हठात् प्रवेश नहीं कर सके। द्वार पर बृन्दे (दासी) खड़ी हुई थी। जिज्ञासा की “क्यों जी, क्या ये साधु महाराज अब इस कमरे में हैं?”

बृन्दे— हाँ, इसी कमरे के भीतर हैं।

मास्टर— ये यहाँ कितने दिनों से हैं?

बृन्दे— वे तो बहुत दिनों से हैं।

मास्टर— अच्छा, ये क्या खूब किताबें पढ़ते हैं?

बृन्दे— अरे बाबा, किताबें-शिताबें— सब इनके मुख में हैं।

मास्टर तो सद्य पढ़ाई आदि करते हुए आए हैं। ‘ठाकुर श्रीरामकृष्ण पुस्तकें पढ़ते ही नहीं’— सुनकर और भी अवाक् हो गए।

मास्टर— अच्छा, शायद अब ये सन्ध्या करेंगे— हम क्या इस कमरे में जा सकते हैं? तुम एक बार सूचना दोगी?

बृन्दे— तुम लोग जाओ न बेटा। जाकर कमरे में बैठो।

तब उन्होंने घर के भीतर प्रवेश करके देखा, कमरे में और कोई नहीं है। ठाकुर श्रीरामकृष्ण कमरे में एकाकी तख्तपोश पर बैठे हुए हैं। कक्ष में धूना<sup>1</sup> दे रखा है और सब दरवाजे बन्द हैं। मास्टर ने प्रवेश करके हाथ जोड़कर प्रणाम किया। ठाकुर श्रीरामकृष्ण से बैठने की अनुमति पाकर वे और सिधु ज़मीन पर बैठ गए। ठाकुर ने पूछा, “कहाँ रहते हो, क्या करते हो, बराहनगर में क्या करने आए हो,” इत्यादि।

मास्टर ने समस्त परिचय दे दिया किन्तु देखने लगे कि ठाकुर बीच-बीच में अन्यमनस्क हो रहे हैं। पीछे सुना इसी का नाम भाव है। जैसे कोई छिप<sup>2</sup> हाथ में लेकर मछली पकड़ने के लिए लगा है। मछली आकर चारा खाने लगती है। फातना जब हिलता है, तब वह व्यक्ति जैसे सावधान होकर छिप (बाँस) हाथ में लेकर फातना की ओर एक टक, एक मन से देखता रहता है। किसी के साथ भी बात नहीं करता। यह ठीक वैसा ही भाव है। पीछे फिर सुना, और देखा, ठाकुर का सन्ध्या के पश्चात् इसी प्रकार का भावान्तर हो जाता है। कभी-कभी वे बिल्कुल बाह्यज्ञान-शून्य हो जाते हैं।

मास्टर— आप अब सन्ध्या करेंगे, तो फिर अब चलते हैं।

श्रीरामकृष्ण (*भावस्थ*)— ना, सन्ध्या— वह ऐसा कुछ नहीं है।

और कुछ बातचीत के बाद मास्टर ने प्रणाम करके विदा ली। ठाकुर बोले, “फिर आइयो (आबार ऐशो)।”

मास्टर लौटते समय सोचने लगे, ‘ये सौम्य कौन हैं?— जिनके पास से लौटकर जाने की इच्छा नहीं हो रही है— पुस्तक बिना पढ़े क्या मनुष्य महत् होता है?— कैसा आश्चर्य, फिर दोबारा आने की इच्छा हो रही है। इन्होंने भी कहा है, आबार ऐशो (फिर भी आइयो)। कल या परसों प्रातः आऊँगा।’



1 धूना— धूप-धूना

2 छिप— पतला लम्बा बाँस जिसके सिरे पर मछली फँसाने के लिए सूत और बंसी लगी होती है।



### तृतीय परिच्छेद

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।

तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥

[ जो अखण्ड मण्डलाकार हैं, जिनसे चर और अचर (समस्त जगत्) व्याप्त है, उनके स्वरूप का जिन्होंने दर्शन करवा दिया, उन श्री गुरु को प्रणाम ]

#### ( द्वितीय दर्शन और गुरु-शिष्य संवाद )

द्वितीय दर्शन। प्रातःकाल आठ बजे। ठाकुर तब हजामत बनवाने के लिए जा रहे हैं। अब भी कुछ-कुछ शीत है। तभी उनके शरीर पर मोलस्किन का रैपर है। रैपर का किनारा शालु से मढ़ा गया है। मास्टर को देखकर बोले,

“तुम आ गये? अच्छा, यहाँ पर बैठो।”

यह बात दक्षिण-पूर्व बरामदे में हुई थी। नाई उपस्थित है। उसी बरामदे में ठाकुर हजामत बनवाने बैठ गए और बीच-बीच में मास्टर के साथ बातें करने लगे। शरीर पर उसी प्रकार रैपर है, पाँव में चटीजूता (स्लीपर)। सहास्यवदन। बातें करते समय तनिक 'तोतला'।

श्रीरामकृष्ण (मास्टर के प्रति)— हाँ जी, तुम्हारा घर कहाँ पर है?

मास्टर— जी, कलकत्ता में।

श्रीरामकृष्ण— यहाँ पर कहाँ आए हो?

मास्टर— यहाँ पर बराहनगर में बड़ी दीदी के घर आया हुआ हूँ, ईशान कविराज के मकान में।

#### ( केशवचन्द्र और माँ के निकट ठाकुर का क्रन्दन )

श्रीरामकृष्ण— हाँ जी, केशव कैसा है? बड़ा बीमार हुआ था।

मास्टर— मैंने भी सुना तो था, अब शायद ठीक हैं।

श्रीरामकृष्ण— मैंने फिर केशव के लिए माँ के निकट नारियल और

चीनी की मन्नत मानी थी। पिछली रात को नींद टूट जाती, और माँ के पास रोया करता और कहता, माँ! केशव का रोग ठीक कर दो। केशव के न रहने पर, मैं कलकत्ता जाकर किसके संग बातें करूँगा? तभी डाब-चीनी मानी थी।

“अच्छा, कुक साहब नामक एकजन आया था। वह क्या लेक्चर देता है? मुझे केशव जहाज में ले गया था। कुक साहब भी था।”

मास्टर— जी, मैंने ऐसा सुना तो था, किन्तु मैंने उनका लेक्चर नहीं सुना है। मैं उनके विषय में विशेष नहीं जानता।

### ( गृहस्थ और पिता का कर्त्तव्य )

श्रीरामकृष्ण— प्रताप का भाई आया था। यहाँ पर कई दिन तक था। काज-कर्म नहीं। कहता था, मैं यहाँ पर रहूँगा। स्त्री, पुत्र, कन्या— सबको ससुराल में छोड़ आया है। बहुत-से बच्चे हैं। मैंने डाँटा, ‘देखो तो, लड़के-बच्चे हुए हैं। उन्हें क्या फिर उस मोहल्ले के लोग खिलाएँगे, पिलाएँगे, बड़ा करेंगे? लज्जा नहीं आती कि स्त्री-बच्चों को कोई और खिलाता है, और उन्हें ससुराल में डाल रखा है।’ मैंने खूब डाँटा और काज-कर्म खोजने के लिए कहा। तब फिर कहीं यहाँ से जाने को हुआ।

### चतुर्थ परिच्छेद

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

[अज्ञान रूपी तिमिर से अन्ध हो गए (मेरे) नेत्र को ज्ञान रूपी अंजन-शलाका से जिन (गुरु) ने खोल दिया है, उन श्री गुरु को प्रणाम।]

### ( मास्टर का तिरस्कार और उनका अहंकार-चूर्णकरण )

श्रीरामकृष्ण (मास्टर के प्रति)— क्या तुम्हारा विवाह हो गया है?

मास्टर— जी हाँ।

श्रीरामकृष्ण (सिहर कर)— ओ रे रामलाल!\* अरे इसने तो विवाह कर डाला है।

मास्टर घोरतर अपराधी की न्यायीं अवाक् हुए अवनत मस्तक चुप किए बैठे रहे। सोचने लगे, 'विवाह करना क्या इतना बड़ा दोष है?' ठाकुर ने फिर और पूछा, "क्या तुम्हारे बच्चे हुए हैं?"

मास्टर की छाती धक्-धक् करती है। डर-डर के बोले, "जी हाँ, बच्चे हुए हैं।"

ठाकुर फिर और आक्षेप करते हुए कहते हैं, "अरे बच्चे भी हो गए हैं!"

तिरस्कृत होकर वे स्तब्ध हो गए। उनका अहंकार चूर्ण होने लगा। कुछ क्षण पश्चात् ठाकुर श्रीरामकृष्ण फिर और कृपादृष्टि करके सस्नेह कहने लगे, "देखो, तुम्हारा लक्षण अच्छा था, मैं मस्तक (कपाल), चक्षु आदि देखने से पहचान सकता हूँ।"

"अच्छा, तुम्हारी पत्नी कैसी है? विद्याशक्ति कि अविद्याशक्ति?"

(ज्ञान किसे कहते हैं? प्रतिमा-पूजा)

मास्टर— जी भली हैं, किन्तु अज्ञान हैं।

श्रीरामकृष्ण (विरक्त होकर)— और तुम ज्ञानी?

ज्ञान किसे कहते हैं और अज्ञान किसे कहते हैं, वे अब तक भी जानते नहीं हैं। अब तक इतना ही जानते हैं कि लिखना-पढ़ना सीख लेना और पुस्तक पढ़ सकना ही ज्ञान होता है। यह भ्रम पीछे दूर हुआ था। तब सुना कि ईश्वर को जानने का नाम है ज्ञान, ईश्वर को न जानने का नाम ही है अज्ञान। ठाकुर ने कहा 'तुम क्या ज्ञानी?'— मास्टर के अहंकार को फिर और विशेष आघात लगा।

श्रीरामकृष्ण— अच्छा, तुम्हारा साकार पर विश्वास है कि निराकार पर?

\* श्रीयुक्त रामलाल, ठाकुर का भतीजा और कालीबाड़ी का पुजारी।

मास्टर (*अवाक् होकर स्वगत*)— साकार पर विश्वास रहने पर क्या फिर निराकार पर भी विश्वास होता है? 'ईश्वर निराकार है'— ऐसा विश्वास रहने पर 'ईश्वर साकार है', फिर ऐसा विश्वास क्या हो सकता है? विरुद्ध अवस्थाएँ दोनों ही क्या सत्य हो सकती हैं? सफेद वस्तु— दूध, क्या फिर काला हो सकता है?

मास्टर— जी निराकार, मुझे तो यही अच्छा लगता है।

श्रीरामकृष्ण— सो तो अच्छा है। किसी एक पर विश्वास रहने से ही हुआ। निराकार पर विश्वास, वह तो अच्छा ही है। तो भी फिर ऐसी बुद्धि न करो कि यह ही केवल सत्य है और सब मिथ्या। यही जानो कि निराकार भी सत्य है और साकार भी सत्य। तुम्हारा जो भी विश्वास है, उसको ही पकड़े रहो।

मास्टर 'दोनों ही सत्य हैं'— यह बात बार-बार सुनकर अवाक् हो गए। यह बात तो उनकी पोथीगत विद्या में नहीं है।

उनका अहंकार तीसरी बार चूर्ण होने लगा। किन्तु तब तक भी सम्पूर्ण नहीं हुआ था। तभी फिर और थोड़ा-सा तर्क करने के लिए अग्रसर हुए।

मास्टर— जी, वे साकार हैं, यह विश्वास तो चलो जैसे भी, हो भी गया। किन्तु मिट्टी की प्रतिमा तो वे नहीं हैं।

श्रीरामकृष्ण— मिट्टी की क्यों भई? **चिन्मयी प्रतिमा!**

मास्टर चिन्मयी प्रतिमा समझ नहीं सके। कहा, "अच्छा, जो मिट्टी की मूर्ति की पूजा करते हैं, उन्हें तो समझा देना उचित है कि मिट्टी की मूर्ति में ईश्वर नहीं हैं, और मूर्ति के सामने ईश्वर को उद्देश्य करके पूजा मत करो, मिट्टी को पूजना उचित नहीं।"

(लेक्चर— Lecture और ठाकुर श्रीरामकृष्ण)

श्रीरामकृष्ण (*विरक्त होकर*)— तुम कलकत्ता के लोगों का यही एक है। केवल लेक्चर देना और समझा देना। अपने को कौन समझाए, यह निश्चय नहीं। तुम कौन हो समझाने वाले? जिनका जगत है, वे समझाएँगे।

उन्होंने इस जगत को रचा है— चन्द्र, सूर्य, ऋतु, मनुष्य, जीव-जन्तु बनाए हैं, जीव-जन्तुओं के आहार का उपाय, पालन करने के लिए माँ-बाप बनाये हैं, माँ-बाप का स्नेह बनाया है, वे ही समझाएँगे। उन्होंने इतना किया है, फिर यह उपाय नहीं करेंगे? यदि समझाना आवश्यक होगा, तो वे ही समझा देंगे। वे तो अन्तर्यामी हैं। यदि वैसी मिट्टी की मूर्ति की पूजा करने में, कुछ भूल रहती है, तो वे क्या जानते नहीं कि उन्हें ही पुकारा जा रहा है? वे उसी पूजा से ही सन्तुष्ट होते हैं। उसके लिए तुम्हारे सिर में व्यथा क्यों है? तुम वही चेष्टा करो, जिससे तुम्हें स्वयं ज्ञान हो, भक्ति हो।

इस बार उनका अहंकार पूरी तरह चूर्ण हो गया।

वे विचार करने लगे, 'ये जो कह रहे हैं, वही तो ठीक है। मुझे समझाने जाने की क्या आवश्यकता है? मैंने क्या ईश्वर को जान लिया है? ना ही मेरी उनके ऊपर भक्ति हुई है। 'आपनि शुते स्थान पाय ना, शंकरा के डाके' (अपने लेटने को तो स्थान नहीं मिला, शंकर को पुकारना)! जानना नहीं, सुनना नहीं, दूसरों को समझाने के लिए चल पड़ना। बड़ी ही लज्जा की बात है, और हीन बुद्धि का कार्य है। यह क्या गणित है, अथवा इतिहास, या साहित्य, कि अन्य को समझाएँगे? यह तो है ईश्वर-तत्त्व। ये जो-जो बातें कह रहे हैं, मन में खूब लग रही हैं।'

ठाकुर के साथ उनका यही प्रथम और अन्तिम तर्क!

श्रीरामकृष्ण— तुम मिट्टी की प्रतिमा की पूजा का कह रहे थे। यदि मिट्टी की होती है, तो उस पूजा का भी प्रयोजन है। नाना प्रकार की पूजाओं का आयोजन ईश्वर ने ही किया है। जिनका जगत है, उन्होंने ही समस्त बनाया है— अधिकारी-भेद से। जिसके पेट को जो सहन होता है, माँ उसी प्रकार के भोजन का बन्दोबस्त करती है।

“एक माँ के पाँच बच्चे हैं। घर में मछली आई है। माँ मछली के नाना प्रकार के व्यञ्जन तैयार करती है— जिसके पेट को जो सह्य है। किसी के लिए मछली का पुलाव, किसी के लिए मछली-अम्बल (खट्टा), मछली की चच्चड़ि (भुजिया), तली हुई मछली— सब बनाती है। जो भी जिसको

पसन्द हो; जो भी जिसके पेट को सहन हो— समझ गए!”

मास्टर— जी हाँ।

### पञ्चम परिच्छेद

संसारार्णवघोरे यः कर्णधारस्वरूपकः ।

नमोऽस्तु रामकृष्णाय तस्मै श्री गुरवे नमः ।

[ (इस) घोर संसार-समुद्र में जो मेरे लिए कर्णधार स्वरूप हैं, उन श्री गुरु को, श्रीरामकृष्ण को मेरा प्रणाम । ]

### ( भक्ति का उपाय )

मास्टर (विनीत भाव से)— ईश्वर में मन कैसे हो ?

श्रीरामकृष्ण— ईश्वर का नाम-गुण-गान सर्वदा करना चाहिए। और सत्संग— ईश्वर के भक्त अथवा साधु के पास बीच-बीच में जाना चाहिए। गृहस्थ के भीतर और विषय-कार्य में रात-दिन रहने से ईश्वर में मन नहीं होता। बीच-बीच में निर्जन में जाकर उनका चिन्तन करना बहुत आवश्यक है। शुरु-शुरु की अवस्था में निर्जन न होने से ईश्वर में मन रखना बड़ा ही कठिन है।

“जब पौधा छोटा होता है, तब उसके चारों ओर घेरा लगाना चाहिए। घेरा न होने से बकरी, गाय उसे खा लेते हैं।

“ध्यान करोगे मन में, कोने में और बन में और सर्वदा सत्-असत्-विचार करोगे। ईश्वर ही सत्, अर्थात् नित्य वस्तु, और सब असत् अर्थात् अनित्य। ऐसा विचार करते-करते अनित्य वस्तु का मन से त्याग करोगे।”

मास्टर (विनीत भाव से)— गृहस्थ में किस प्रकार रहना होगा ?

### ( गृहस्थ-संन्यास— उपाय— निर्जन में साधना )

श्रीरामकृष्ण— सब कार्य करोगे किन्तु मन ईश्वर में रखोगे। स्त्री, पुत्र, बाप, माँ— सब को लेकर रहोगे और सेवा करोगे, मानो वे कितने अपने

जन हैं। किन्तु मन में जानोगे कि ये लोग तुम्हारे कोई नहीं हैं।

“बड़े घर की दासी सब काम करती है किन्तु गाँव के अपने घर की ओर मन पड़ा रहता है। और फिर वह मालिक के बच्चों का अपने बच्चों की भाँति पालन करती है। कहती है ‘मेरा राम’, ‘मेरा हरि’— किन्तु मन में खूब जानती है— ये मेरे कोई नहीं हैं।

“कच्छप जल में विचरण करता है किन्तु उसका मन कहाँ पर पड़ा रहता है, जानते हो? घाट पर, सूखे में पड़ा रहता है, जहाँ पर उसके अण्डे हैं। संसार का सर्व कर्म करोगे किन्तु ईश्वर में मन को डाले रखोगे।

“ईश्वर में भक्ति प्राप्त किए बिना यदि गृहस्थ करने जाओगे, तब तो फिर और भी फँस जाओगे। विपद्, शोक, ताप— इन सब में अधीर हो जाओगे। और फिर जितनी ही विषय-चिन्ता करोगे, उतनी ही आसक्ति बढ़ेगी।

“तेल हाथ पर मलकर कटहल तोड़ना चाहिए। वैसा न होने पर लेस हाथ पर चिपक जाएगी। ईश्वर में भक्ति-रूप तेल प्राप्त करके तब गृहस्थी के कार्य में हाथ देना चाहिए।

“किन्तु इस भक्ति को प्राप्त करना हो तो निर्जन होना चाहिए। मक्खन निकालना हो तो निर्जन में दही जमाना होता है। हिलाने-डुलाने से दही जमता नहीं। उसके पश्चात् निर्जन में बैठकर, सब कार्य छोड़कर, दही का मथन करना पड़ता है। तभी फिर मक्खन निकलता है।

“और भी देखो, इसी मन से निर्जन में ईश्वर-चिन्तन करने से ज्ञान, वैराग्य, भक्ति की प्राप्ति होती है। किन्तु संसार में डाले रखने से वही मन ही नीचे हो जाता है। गृहस्थ में तो केवल कामिनी-काञ्चन की चिन्ता ही तो है।

“गृहस्थ मानो जल है, और मन जैसे दूध। यदि जल में दूध को डाल दें, तो फिर तो दूध जल में मिलकर एक हो जाएगा। शुद्ध दूध खोजने पर भी नहीं मिलेगा। दूध की दही जमाकर— मक्खन निकाल कर, यदि जल में रखा जाए, तो फिर तैरता रहता है। इसीलिए निर्जन में साधना द्वारा पहले ज्ञान-भक्ति रूप मक्खन प्राप्त करो। फिर वह मक्खन गृहस्थ-जल में डाले रखने

पर भी मिलेगा नहीं, तैरता ही रहेगा।

“संग-संग विचार करना भी खूब आवश्यक है। कामिनी-काञ्चन अनित्य, ईश्वर ही एकमात्र वस्तु हैं। रुपये से क्या होता है? भात होता है, दाल होती है, कपड़ा होता है, रहने को स्थान होता है— यहीं तक तो। किन्तु इससे भगवान-लाभ नहीं होता। जभी रुपया जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकता— इसका नाम है विचार, समझे?”

मास्टर— जी हाँ, ‘प्रबोधचन्द्रोदय’ नाटक में मैंने अभी पढ़ा है, उसमें है ‘वस्तु-विचार’।

श्रीरामकृष्ण— हाँ ‘वस्तु-विचार’। यही देखो, रुपये में फिर है भी क्या, और सुन्दर देह में भी क्या है फिर? विचार करो, सुन्दरी की देह में भी तो केवल हाड़, मांस, चरबी, मल-मूत्र— यही सब तो है। ऐसी वस्तु में, ईश्वर को छोड़, मनुष्य क्यों मन देता है? क्यों ईश्वर को भूल जाता है?

### ( ईश्वर-दर्शन के उपाय )

मास्टर— ईश्वर का क्या दर्शन किया जाता है?

श्रीरामकृष्ण— हाँ, अवश्य किया जाता है। बीच-बीच में निर्जन-वास, उनका नाम-गुण-गान, वस्तु-विचार— ये समस्त उपाय अवलम्बन करने चाहिएँ।

मास्टर— कैसी अवस्था में उनका दर्शन होता है?

श्रीरामकृष्ण— खूब व्याकुल होकर क्रन्दन करने से उनको देखा जाता है। स्त्री-पुत्र के लिए व्यक्ति घड़ों रोता है, रुपये-पैसे के लिए लोग रो-रोकर नदियाँ बहा देते हैं, किन्तु ईश्वर के लिए कौन क्रन्दन करता है? ‘डाकार मत डाकते होय’ (आन्तरिक पुकार की तरह से पुकारना चाहिए)— यह कह कर ठाकुर ने गाना गाया—

डाको देखि मन डाकार मत केमन श्यामा थाकते पारे।  
केमन श्यामा थाकते पारे, केमन काली थाकते पारे ॥



मन यदि एकान्त होओ, जवा बिल्वदल लओ।

भक्ति चन्दन मिशाइये (मार) पदे, पुष्पांजलि दाओ॥

[हे मन! आन्तरिक पुकार से पुकारो तो देखूँ माँ फिर कैसे रह सकती हैं? कैसे श्यामा रहती हैं? कैसे काली रह सकती हैं? हे मन, यदि एकान्त में हो तो जवा, बिल्वदल ले लो और भक्ति रूप चन्दन मिलाकर (माँ के) चरणों में पुष्पांजलि प्रदान करो।]

“व्याकुलता होने पर अरुणोदय हो जाता है। तत्पश्चात् सूर्य दिखाई देगा। व्याकुलता के बाद ईश्वर-दर्शन।

“तीन आकर्षण एकत्र होने पर ही वे दर्शन देती हैं— विषयी का विषय के ऊपर, माँ का सन्तान के ऊपर, और सती स्त्री का पति के ऊपर आकर्षण। ये तीनों आकर्षण यदि किसी के भी एक संग में हों, तो वह उसी आकर्षण के जोर से ईश्वर को प्राप्त कर सकता है।

“बात तो यही है, ईश्वर को प्यार करना चाहिए। माँ जैसे लड़के को प्यार करती है, पतिव्रता जैसे पति को प्यार करती है, विषयी जैसे विषय को प्यार करता है— इन तीनों जनों का प्यार, यही तीन खेंच, एकत्र कर लेने पर जितना होता है उतना ईश्वर को दे सकने पर उनका दर्शन प्राप्त होता है।

“व्याकुल होकर उन्हें पुकारना चाहिए।

“बिल्ली का बच्चा केवल मियुँ-मियुँ करके माँ को पुकारना जानता है। माँ उसको जहाँ पर रखती है, वह वहीं पर ही रहता है— कभी रसोई में, कभी धरती पर, कभी फिर बिस्तरे के ऊपर रख देती है। उसको कष्ट होने पर वह केवल मियुँ-मियुँ करके पुकारता है, और कुछ नहीं जानता। माँ कहीं भी रहती है, इस मियुँ-मियुँ को सुनकर आ जाती है।”



### षष्ठ परिच्छेद

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ गीता 6:29

[योग युक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शी योगी अपने को सर्वभूतों में तथा सर्व भूतों में अपने को देखता है ।]

( तृतीय दर्शन— नरेन्द्रनाथ, भवनाथ, मास्टर )

मास्टर तब बराहनगर में बहिन के घर में थे। ठाकुर श्रीरामकृष्ण के दर्शन करने के समय से सर्वक्षण उनका ही चिन्तन करते। सर्वदा ही जैसे वही आनन्दमयी मूर्ति देख रहे हैं और उनकी वही अमृतमयी कथा सुन रहे हैं। विचार करने लगे, 'दरिद्र ब्राह्मण ने किस प्रकार यह सारा गम्भीर तत्त्व अनुसन्धान किया है और जाना है और इतने सहज में ये समस्त बातें समझाते हुए तो उन्होंने अब तक किसी को भी नहीं देखा है। कब उनके पास जाएँगे तथा फिर उनके दर्शन करेंगे'— यही बात रात-दिन सोचते हैं।

देखते ही देखते रविवार, 5 मार्च आ गई। बराहनगर के नेपाल बाबू के संग चार बजे वे दक्षिणेश्वर के उद्यान में आ पहुँचे। देखा, उसी पूर्वपरिचित कमरे में ठाकुर श्रीरामकृष्ण छोटे तख्तपोष के ऊपर बैठे हैं। वहाँ पर कमरा भर लोग हैं। रविवार को अवकाश मिला है, जभी भक्तगण दर्शन करने आए हैं। अभी तक मास्टर के साथ किसी का भी आलाप नहीं हुआ। उन्होंने सभा में एक तरफ आसन ग्रहण किया। देखा, भक्तों के संग सहास्यवदन ठाकुर बातें कर रहे हैं।

एक उन्नीस वर्ष के वयस्क युवक को लक्ष्य करके और उनकी ओर देखकर ठाकुर जाने कितने आनन्दित होकर अनेक बातें कह रहे थे। लड़के का नाम नरेन्द्र है, कॉलेज में पढ़ते हैं और साधारण ब्राह्मसमाज में यातायात करते हैं। बातें सब तेज-परिपूर्ण हैं। चक्षु दोनों उज्ज्वल। भक्त चेहरा।

मास्टर ने अनुमान से समझ लिया कि बातें विषयासक्त गृही व्यक्ति के सम्बन्ध में हो रही थीं। जो केवल ईश्वर-ईश्वर करता है, धर्म-धर्म करता है, उसकी सब लोग निन्दा करते हैं। और संसार में कितने ही दुष्ट लोग होते हैं,

उनके संग किस प्रकार व्यवहार करना उचित है, ऐसी ही सब बातें हो रही हैं।

श्रीरामकृष्ण (नरेन्द्र के प्रति)— नरेन्द्र, तू क्या कहता है? गृहस्थी लोग कितना-कुछ ही बोलते हैं। किन्तु देख, हाथी जब चल रहा होता है, पीछे-पीछे कितने ही जानवर कितनी तरह से चीत्कार करते रहते हैं। किन्तु हाथी मुड़कर भी नहीं देखता। तू मन में क्या समझेगा?

नरेन्द्र— मैं समझूँगा, कुत्ते भौ-भौ कर रहे हैं।

श्रीरामकृष्ण (सहास्य)— ना रे, इतनी दूर नहीं। (सबका हास्य)। ईश्वर सर्वभूतों में हैं। तो भी भले लोगों के संग में मेल-मिलाप चलता है, मन्दे लोगों के निकट रहते हुए फासला रखना चाहिए। बाघ के भीतर भी नारायण हैं, इसीलिए बाघ का आलिंगन नहीं चलता (सबका हास्य)। यदि कहो, बाघ तो नारायण हैं, तो फिर क्यों भागूँ? उसका उत्तर है— जो कहते हैं 'भाग जाओ', वे भी तो नारायण हैं। उनकी बात क्यों न सुनूँ?

“एक कहानी सुनो, किसी एक वन में एक साधु रहते थे। उनके बहुत से शिष्य थे। उन्होंने एक दिन शिष्यों को उपदेश दिया कि 'सर्वभूतों में नारायण हैं, यही जानकर सबको नमस्कार करोगे।'

“एक दिन एक शिष्य होम के लिए लकड़ी लेने वन में गया। तब एक शोर होने लगा, 'जो कोई कहीं भी है, भागो— एक पागल हाथी आ रहा है।' सब ही भाग गए, किन्तु शिष्य नहीं भागा। वह समझता है कि 'हाथी में भी तो नारायण हैं, फिर मैं क्यों भागूँ?'— यह सोच कर वह खड़ा रहा। नमस्कार करके स्तव-स्तुति करने लगा। इधर महावत चीत्कार करके कहता है, 'भागो, भागो।' वह शिष्य फिर भी नहीं हिला। अन्त में वही हाथी सूँड में उठाकर उसको एक किनारे पटक कर चला गया। शिष्य क्षत-विक्षत हो, बेहोश पड़ा रहा।

“यह संवाद पाकर गुरु और अन्य शिष्य उसे उठाकर आश्रम में ले आए और औषध देने लगे। कुछ देर पश्चात् होश आने पर उससे किसी ने पूछा, 'तुम क्यों— हाथी आ रहा है— सुनकर भी हटे नहीं?' उसने उत्तर दिया, 'गुरुदेव ने जो मुझसे कह दिया था, नारायण ही मनुष्य, जीव-जन्तु सब

कुछ होकर रह रहे हैं। जभी मैं हाथी-नारायण आ रहे हैं, देखकर वहाँ से हटा नहीं था।' गुरु ने तब कहा, बेटा! हाँ, हाथी-नारायण तो आ ही रहे थे निश्चय, यह सत्य है, किन्तु बेटा, महावत-नारायण ने तुम्हें मना किया था। यदि सब ही नारायण हैं, तब तो उसकी बात पर विश्वास क्यों नहीं किया? महावत-नारायण की बात सुननी चाहिए।''

“शास्त्र में है ‘आपो नारायण’— जल नारायण है। किन्तु कोई जल तो ठाकुर-सेवा में लगता है, और फिर कोई जल कुल्ला-हाथ-मुँह धोने में, बर्तन माँजने, कपड़े धोने में ही केवल चलता है, किन्तु आहार या ठाकुर-सेवा में नहीं चलता। उसी प्रकार साधु-असाधु, भक्त-अभक्त सबके ही हृदय में नारायण हैं। किन्तु असाधु, अभक्त, दुष्ट लोगों के संग व्यवहार नहीं चलता, मेल-मिलाप नहीं चलता। किसी के साथ केवल मुख का आलाप पर्यन्त ही चलता है, और किसी के संग वह भी नहीं चलता। वैसे लोगों से कुछ अन्तर पर ही रहना चाहिए।”

एक भक्त— महाशय, यदि दुष्ट व्यक्ति अनिष्ट करने आता है, अथवा अनिष्ट करता है, तो फिर क्या चुप रहना उचित है ?

### ( गृहस्थ और तमोगुण )

श्रीरामकृष्ण— लोगों के साथ वास करने के लिए, दुष्ट लोगों के हाथ से अपनी रक्षा करने के लिए, थोड़ा-सा तमोगुण भी दिखाना प्रयोजनीय है। किन्तु ‘वह अनिष्ट करेगा’, समझ कर उल्टे उसका अनिष्ट करना उचित नहीं।

“एक मैदान में एक चरवाहा गाय चराया करता था। उसी मैदान में एक भयानक विषैला साँप था। सब ही उस साँप के भय से अत्यन्त सावधान रहते थे। एक दिन एक ब्रह्मचारी उसी मैदान के मार्ग से आ रहा था। चरवाहों ने दौड़कर कहा, ‘ठाकुर महाशय, उस तरफ से मत जाएँ। उधर एक भयानक विषाक्त साँप रहता है। ब्रह्मचारी ने कहा, बेटा वह होने दो, मुझे उससे भय नहीं है, मैं मन्त्र जानता हूँ। यह बात कहकर ब्रह्मचारी उसी ओर चल दिया। भय से कोई भी चरवाहा उसके संग नहीं गया। इधर वही साँप फण उठाकर

दौड़ता हुआ आने लगा। किन्तु निकट आते न आते ब्रह्मचारी ने ज्योंहि एक विशेष मन्त्र पढ़ा, त्योंहि वह साँप तो केंचवे की भाँति पैरों के पास पड़ गया। ब्रह्मचारी ने कहा, 'ओ रे, तू क्यों दूसरों की हिंसा करता हुआ घूम रहा है? आ, तुझे मन्त्र दूँ। इस मन्त्र के जपने पर तेरी भगवान में भक्ति होगी, भगवान-लाभ होगा, और हिंसा-प्रवृत्ति नहीं रहेगी', यह कहकर उसने साँप को मन्त्र दे दिया। साँप ने मन्त्र पाकर गुरु को प्रणाम करके पूछा, 'ठाकुर, साधना कैसे करूँ? बताइये।' गुरु ने कहा, 'इसी मन्त्र का जप कर, और किसी की भी हिंसा मत कर।' ब्रह्मचारी ने जाते समय कहा, 'मैं फिर आऊँगा।'

“इसी प्रकार कुछ दिन चले गए। चरवाहों ने देखा कि साँप तो अब काटने नहीं आता। ढेला मारते हैं, तब भी क्रोध नहीं करता, केंचवे जैसा हो गया है। एक दिन एक चरवाहे ने उसके पास जाकर उसे पूँछ से पकड़ कर धरती पर पटक-पटक कर मारा। साँप के मुख से रक्त निकलने लगा और वह बेहोश हो गया। न हिलता है, न डुलता है। चरवाहों ने सोचा कि साँप मर गया है। यही सोचकर वे सब लोग चले गए।

“बड़ी रात गए साँप को होश आया। वह धीरे-धीरे अति कष्ट से अपने बिल में चला गया। शरीर चूर-चूर हो गया था— हिलने की शक्ति नहीं रही। कई दिनों पश्चात् जब शरीर कंकाल-सा हो गया तब बाहर आहार की चेष्टा में रात को एक बार चरने के लिए आता, भय से दिन के समय नहीं आता था। मन्त्र लेने की अवधि से हिंसा नहीं करता था। धरती पर गिरे पत्ते, वृक्ष से गिरे फल खाकर प्राण-रक्षा करता।

“प्रायः एक वर्ष के बाद ब्रह्मचारी उसी मार्ग से फिर आया। आते ही साँप की खोज की। चरवाहों ने बताया, वह साँप तो मर गया है। किन्तु ब्रह्मचारी को उस बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह जानता था जो मन्त्र उसने लिया है, उसका साधन हुए बिना देह-त्याग नहीं होगा। खोजते-खोजते उसी ओर उसको दिए हुए नाम से पुकारने लगा। वह गुरुदेव की आवाज सुनकर बिल से बाहर आया और खूब भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। ब्रह्मचारी ने पूछा, 'तू कैसा है?' वह बोला, 'जी, अच्छा हूँ।' ब्रह्मचारी ने पूछा, 'तू ऐसा दुर्बल

कैसे हो गया?’ साँप बोला, ‘ठाकुर, आपने आदेश किया था— किसी की हिंसा मत करना। तभी पत्ते-फल खाता हूँ, इसीलिए लगता है दुर्बल हो गया हूँ।’ उसका सत्त्वगुण हो गया था कि ना! तभी किसी के ऊपर क्रोध नहीं। वह भूल ही गया था कि चरवाहों ने मार डालने का आयोजन किया था। ब्रह्मचारी ने कहा, ‘केवल न खाने के कारण ऐसी अवस्था नहीं होती, अवश्य और कारण है। सोच कर देखो।’ साँप को याद आया कि चरवाहों ने घुमेटियाँ दी थीं। वे तो अनजान हैं। मेरे मन की क्या अवस्था है, वे नहीं जानते थे। मैं जो किसी को भी काटूँगा नहीं या किसी प्रकार का भी अनिष्ट नहीं करूँगा— कैसे वे जानेंगे? ब्रह्मचारी ने कहा, ‘छिः! तू तो इतना मूर्ख है कि अपनी रक्षा करना भी नहीं जानता। मैंने डंक मारने को ही मना किया था, फुत्कारने के लिए तो नहीं। फुत्कार करके उन्हें भय क्यों नहीं दिखाया?’

“दुष्ट लोगों के निकट फुत्कार करके भय दिखाना चाहिए, पीछे हानि न करें। उनके ऊपर विष नहीं फेंकते, अनिष्ट नहीं करते।”

### ( भिन्न प्रकृति— Are all men equal ? )

ईश्वर की सृष्टि में नाना प्रकार के जीव-जन्तु, पेड़-पौधे हैं। जानवरों के मध्य भले हैं, मन्दे हैं। बाघ जैसे हिंसक जन्तु हैं। वृक्षों के मध्य अमृत की न्यारियाँ फल होते हैं— ऐसे हैं। और फिर विष-फल भी हैं। उसी प्रकार मनुष्यों के मध्य भला है, मन्दा भी है, असाधु भी है, संसारी जीव है और फिर भक्त भी है।

“जीव चार प्रकार के हैं— बद्ध जीव, मुमुक्षु जीव, मुक्त जीव और नित्य जीव।

- नित्य जीव— जैसे नारद आदि। ये संसार में रहते हैं जीवों के मंगल के लिए, जीवों को शिक्षा देने के लिए।
- बद्ध जीव— विषय में आसक्त हुए रहते हैं, और भगवान को भूले रहते हैं— भूल कर भी भगवान का चिन्तन नहीं करते।
- मुमुक्षु जीव— मुक्त होने की इच्छा करते हैं। किन्तु उनमें से कोई मुक्त

हो पाते हैं, कोई नहीं हो पाते।

— मुक्त जीव— जो संसार में कामिनी-काञ्चन में आबद्ध नहीं हैं, जैसे साधु, महात्मागण, जिनके मन में विषयबुद्धि नहीं, और जो सर्वदा ही हरि-पादपद्म-चिन्तन करते हैं।

“जैसे तालाब में जाल डाला हुआ है। दो-चार मछलियाँ इतनी सयानी हैं कि कभी भी जाल में नहीं गिरतीं— यह है नित्य जीव का उपमास्थल।

“किन्तु बहुत सी मछलियाँ जाल में पड़ ही जाती हैं। इनमें से कितनी ही भागने की चेष्टा करती हैं, ये मुमुक्षु जीव की उपमा हैं।

“किन्तु सारी ही मछलियाँ भाग नहीं सकतीं। दो-चार ही केवल ध्याँग-ध्याँग करके जाल में से भाग जाती हैं। तब लड़के कहते हैं— वह देखो, एक तो बहुत ही बड़ी मछली भाग गई। (यह है मुक्त जीव की उपमा।)

“किन्तु जो जाल में पड़ गई हैं, अधिकांश ही भाग नहीं सकतीं। और भागने की चेष्टा भी नहीं करतीं। बल्कि जाल को मुख में दबाकर तालाब के कीचड़ के भीतर चुप करके, मुख छिपाकर लेट जाती हैं। मन में सोचती हैं, अब और कोई भय नहीं, हम ठीक हैं। किन्तु जानती नहीं कि मछेरा हड़-हड़ करके खींच कर जमीन पर रख देगा। ये ही हैं बद्ध जीव की उपमा।”

### ( संसारी जीव— बद्ध जीव )

“बद्ध जीव संसार के कामिनी-काञ्चन में बद्ध हुए रहते हैं, हाथ-पैर बँधे हुए रहते हैं। और सोचते भी यही हैं कि संसार में इसी कामिनी-काञ्चन से ही सुख मिलेगा और निर्भय रहते हैं। जानते नहीं कि उसमें ही मृत्यु होगी। बद्ध जीव मरता है, उसकी स्त्री कहती है, ‘तुम तो चल दिए, मेरा क्या कर चले?’ और फिर ऐसी माया कि प्रदीप में अधिक बत्ती जलने पर बद्ध जीव कहता है— ‘तेल फुक जाएगा, बत्ती को कम कर दो’, उधर मृत्यु-शय्या पर लेटा हुआ है।

“बद्ध जीव ईश्वर-चिन्तन नहीं करता। यदि अवसर होता भी है तो

भी फिर इधर-उधर की फालतू गप्प लगाता है। नहीं तो वृथा कार्य करता है। पूछने पर कहता है, मैं चुप करके रह नहीं सकता, तभी घेरा बाँध रहा हूँ। शायद समय कटता न देखकर ताश खेलना आरम्भ कर देता है।” (सबका हास्य)।

### सप्तम परिच्छेद

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।

असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ गीता 10:3

[जो (मनुष्य) मुझे अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकों का महान् ईश्वर जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानवान् है (और वह) सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।]

### (उपाय— विश्वास)

एकजन भक्त— महाशय, इस प्रकार के संसारी जीव का क्या कोई उपाय नहीं ?

श्रीरामकृष्ण— उपाय अवश्य है। बीच-बीच में साधुसंग और कभी-कभी निर्जन-वास में ईश्वर-चिन्तन करना चाहिए। और विचार करना चाहिए। उनके निकट प्रार्थना करनी चाहिए— मुझे भक्ति-विश्वास दो।

“विश्वास हो जाने पर ही हुआ। विश्वास से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है।

(केदार के प्रति)— विश्वास का कितना जोर है— वह तो तुम ने सुना है ? पुराण में है, रामचन्द्र जो साक्षात् पूर्णब्रह्म नारायण, उन्हें लंका जाने के लिए सेतु बाँधना पड़ा था। किन्तु हनुमान राम-नाम में विश्वास करके छलाँग मार कर पार जा पड़ा। उसे फिर सेतु का प्रयोजन नहीं हुआ। (सबका हास्य)।

“विभीषण ने एक पत्ते पर राम-नाम लिख कर उसी पत्ते को एक व्यक्ति के कपड़े की छोर से बाँध दिया। उस व्यक्ति ने समुद्र के पार जाना



था। विभीषण ने उससे कहा, 'तुम्हें भय नहीं, तुम विश्वास करके जल के ऊपर से चले जाओ, किन्तु देखो ज्योंहि अविश्वास करोगे, त्योंहि डूब जाओगे।' वह व्यक्ति भली प्रकार समुद्र के ऊपर चला जा रहा था। उसी समय उसकी बड़ी भारी इच्छा हुई कि 'कपड़े की खूँट में क्या बँधा हुआ है', एक बार देखे। खोलकर देखा तो केवल 'राम-नाम' लिखा हुआ है। तब उसने सोचा, 'यह क्या? केवल राम-नाम ही एकमात्र लिखा हुआ है?' जैसे ही अविश्वास हुआ, वैसे ही डूब गया।

“जिसका ईश्वर पर विश्वास है, वह यदि महापाप भी करे— गौ, ब्राह्मण, स्त्री की हत्या करे, तो भी भगवान में इस विश्वास के बल पर बड़े-बड़े पापों से उद्धार हो सकता है। वह यदि बोले मैं ऐसा काम नहीं करूँगा, उसको किसी से भय नहीं होता”  
यह कहकर ठाकुर गाना गाने लगे—

(महापातक और नाम-माहात्म्य)

आमि दुर्गा दुर्गा बोले मा यदि मरि।  
आखेरे एदीने, ना तारो केमने, जाना जाबे गो शंकरी ॥  
नाशि गो ब्राह्मण, हत्या करि भ्रूण, सुरापान आदि विनाशि नारी।  
ए सब पातक, ना भाबि तिलेक, ब्रह्मपद निते पारि ॥

[दुर्गा, दुर्गा अगर जपूँ मैं, जब मेरे निकलेंगे प्राण।  
देखूँ कैसे नहीं तारती हो तुम करुणा की खान ॥  
गौ-ब्राह्मण की हत्या करके, करके भी मदिरा का पान।  
जरा नहीं परवाह पापों की, लूँगा निश्चय पद निर्वाण ॥]

—निराला

( नरेन्द्र — होमा पक्षी )

“इसी लड़के को देख रहे हो, यहाँ पर एक प्रकार से है। शैतान लड़का जब बाप के पास बैठता है, जैसे हव्वे के पास हो; और फिर जब चाँदनी में खेलता है, तब और एक मूर्ति। ये नित्य सिद्ध के स्तर के हैं। ये लोग कभी भी संसार

में बद्ध नहीं होते। थोड़ी वयस् होते ही चैतन्य हो जाता है, और भगवान की ओर चले जाते हैं। ये संसार में आते हैं जीव-शिक्षा के लिए। इन्हें संसार की वस्तु कुछ भी अच्छी नहीं लगती— ये लोग कामिनी-काञ्चन में कभी आसक्त नहीं होते।

“वेद में है होमा पक्षी की कथा— वह पक्षी खूब ऊँचे आकाश में रहता है। उसी आकाश में अण्डे देता है। अण्डे देने पर वह गिरने लगता है। किन्तु इतना ऊँचे पर होता है कि अनेक दिनों तक अण्डा गिरता ही रहता है। अण्डा गिरते-गिरते फूट जाता है। तब बच्चा गिरने लगता है। गिरते-गिरते उसकी आँखें खुल जाती हैं और पंख निकल आते हैं। आँखें खुलते ही देखता है कि वह गिर रहा है, और धरती लगने से तो चह चकनाचूर हो जाएगा। तब वह पक्षी, माँ की ओर एकदम वेग से दौड़ लगाता है, फिर ऊँचे चढ़ जाता है।”

नरेन्द्र उठकर चले गए।

सभा में केदार, प्राणकृष्ण, मास्टर इत्यादि अनेक जन हैं।

श्रीरामकृष्ण— देखो, नरेन्द्र गाने-बजाने, पढ़ने-लिखने— सब में ही अच्छा है। उस दिन केदार के संग तर्क कर रहा था। केदार की बातों को कच-कच करके काटने लगा। (ठाकुर और सबका हास्य)।

(मास्टर के प्रति)— अंग्रेजी में क्या तर्क की कोई किताब है ?

मास्टर— हाँ जी, है। अंग्रेजी में न्याय-शास्त्र (Logic) है।

श्रीरामकृष्ण— अच्छा, कैसे है। ज़रा बाताओ तो।

मास्टर अब मुश्किल में पड़ गए। बोले, “एक प्रकार तो है साधारण सिद्धान्त से विशेष सिद्धान्त पर पहुँचना, जैसे— सब मनुष्य मरेंगे, पण्डितगण मनुष्य हैं, अतएव पण्डितगण भी मर जाएँगे।

“और एक प्रकार से है, विशेष दृष्टान्त अथवा घटना देखकर साधारण सिद्धान्त पर पहुँचना। जैसे— यह कौवा काला है, वह कौवा काला है, (और फिर) जितने कौवे देखता हूँ, सब ही काले हैं, अतएव सब कौवे ही काले हैं।

“किन्तु इस प्रकार से सिद्धान्त बनाने पर गलती हो सकती है, क्योंकि

हो सकता है खोजते-खोजते किसी एक देश में सफ़ेद कौवा दिखाई पड़ जाता है। और एक दृष्टान्त है— जहाँ पर वर्षा है, वहाँ पर मेघ था या है, अतएव यह साधारण सिद्धान्त हुआ कि मेघ से वृष्टि होती है। और भी एक दृष्टान्त है— इस मनुष्य के बत्तीस दाँत हैं, उस मनुष्य के भी बत्तीस दाँत हैं, और फिर जिस-किसी भी मनुष्य को देखते हैं, उसके ही बत्तीस दाँत हैं। अतएव सब मनुष्यों के ही बत्तीस दाँत होते हैं।

“इस प्रकार साधारण सिद्धान्त की बातें अंग्रेजी न्याय-शास्त्र में हैं।”

श्रीरामकृष्ण ने बातें सुनीं मात्र। सुनते-सुनते ही अन्यमनस्क हो गए। फिर इसीलिए इस विषय पर अधिक प्रसंग नहीं हुआ।

### अष्टम परिच्छेद

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ गीता 2:53

[शास्त्रीय मतभेदों से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब निश्चल हो जाएगी (और) परमात्मा में अचल हो जाएगी, तब तू योग को प्राप्त होगा।]

### ( समाधि मन्दिर में )

सभा भंग हो गई। भक्त इधर-उधर टहल रहे हैं। मास्टर भी पञ्चवटी इत्यादि स्थानों पर टहल रहे हैं। समय लगभग पाँच का। कुछ क्षण पश्चात् उन्होंने श्रीरामकृष्ण के कमरे की ओर आकर देखा, कमरे के उत्तर की ओर के छोटे बरामदे के बीच में अद्भुत व्यापार हो रहा है।

श्रीरामकृष्ण स्थिर हुए खड़े हैं। नरेन्द्र गाना गा रहे हैं। दो-चार जन भक्त खड़े हुए हैं। मास्टर गाना सुनकर आकृष्ट हुए। ठाकुर के गाने के अतिरिक्त ऐसा मधुर गाना उन्होंने कभी भी, कहीं भी नहीं सुना था। हठात् ठाकुर की ओर दृष्टिपात करते ही वे अवाक् हो गए। ठाकुर खड़े हुए हैं— निस्पन्द, पलकें हिलती नहीं, निःश्वास-प्रश्वास चल रहा है कि नहीं! पूछने पर एक भक्त ने कहा, इसका नाम समाधि है। मास्टर ने इस प्रकार कभी

देखा भी नहीं था, सुना भी नहीं था। अवाक् होकर वे सोचने लगे, भगवान का चिन्तन करते हुए मनुष्य क्या इतना बाह्यज्ञान-शून्य हो जाता है? न जाने कितना अधिक भक्ति-विश्वास होने पर इस प्रकार होता है।' गाना यह है—

चिन्तय मम मानस हरि चिद्घन निरंजन  
किंवा, अनुपमभाति, मोहनमूर्ति भक्त-हृदय-रञ्जन।  
नवरागे रञ्जित, कोटि शशि विनिन्दित,  
किंवा बिजलि चमके से रूप आलोके, पुलके, शिहरे जीवन।

गाने के इस चरण को गाते समय ठाकुर श्रीरामकृष्ण सिहरने लगे। देह रोमाञ्चित हो गया। चक्षुओं से आनन्दाश्रु विगलित हो रहे हैं। बीच-बीच में मानो कुछ देखकर हँस रहे हैं। न जाने 'कोटि शशि विनिन्दित' का कैसा अनुपम रूप-दर्शन कर रहे हैं! क्या इसी का नाम भगवान का चिन्मय रूप-दर्शन है? कितना साधन करने पर, कितनी तपस्या के फल से, कितने परिमाण में भक्ति-विश्वास के बल पर इस प्रकार ईश्वर-दर्शन होता है? फिर और गाना चलने लगा—

हृदि कमलासने, भजो तौर चरण,  
देख शान्त मने, प्रेम नयने, अपरूप प्रिय दर्शन!

फिर दोबारा वही भुवन-मोहन हास्य! शरीर उसी प्रकार निस्पन्द, स्तिमित लोचन। किन्तु शायद कोई अपरूप रूप-दर्शन कर रहे हैं और उसी अपरूप रूप का दर्शन करके महानन्द में तैर रहे हैं।

अब गाने का शेष हो रहा है। नरेन्द्र ने गाया—

चिदानन्दरसे भक्तियोगावेशे, होओ रे चिरमगन।  
(चिदानन्दरसे, हाय रे) (प्रेमानन्दरसे)

समाधि की और प्रेमानन्द की यह अद्भुत छवि हृदय में ग्रहण करके मास्टर गृह को लौटने लगे। बीच-बीच में हृदय के बीच उसी हृदयोन्मत्तकारी मधुर संगीत का स्फुरण उठने लगा—

प्रेमानन्दसे होओ रे चिरमगन (हरि प्रेम में मस्त हो जाओ)।

[हे मेरे मन! हरि चिद्घन निरञ्जन का चिन्तन करो, वह मोहन मूर्ति भक्तों के हृदय को प्रसन्न करने वाली कैसी अनुपम ज्योतिर्मय है! नव अनुराग में

रञ्जित हुई, करोड़ों शशियों को विनिन्दित करती है, अथवा बिजली की चमक से वह रूप प्रकाशित होता है और जीवन-प्राण पुलकित होता हुआ काँपता है। हृदय रूप कमलासन पर उनके चरणों को भजो। और शान्त मन से प्रेमपूर्ण नयनों से वह अपरूप प्रिय-दर्शन करो। चिदानन्द रस में भक्तियोग के आवेश में हे मन, चिरमगन हो जाओ। चिदानन्द रस में! हाय रे प्रेमानन्द रस में!]

### नवम परिच्छेद

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ गीता 6:22

[जिसे प्राप्त करके, उससे अधिक (बड़ा) दूसरा कोई लाभ नहीं है, (जो ऐसा) मानता है, और जिस (अवस्था) में स्थित हुआ (वह) बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता।]

(चतुर्थ दर्शन— नरेन्द्रनाथ, भवनाथ आदि के संग आनन्द)

उसके अगले दिन भी (6 मार्च को) छुट्टी थी। 3 बजे दोपहर के समय मास्टर फिर आ उपस्थित हुए। ठाकुर श्रीरामकृष्ण उसी पूर्व परिचित कमरे में बैठे हैं। ज़मीन पर मादुर (चटाई) बिछी है। वहाँ पर नरेन्द्र, भवनाथ, और भी दो जन बैठे हैं। कई-एक उन्नीस-बीस वर्ष के लड़के हैं। ठाकुर सहास्यवदन, छोटे तख्तपोश के ऊपर बैठे हैं, और छोकरोँ के साथ आनन्द में बातें कर रहे हैं।

मास्टर को घर में प्रवेश करते हुए देखकर ठाकुर उच्च हास्य करके लड़कों से कह उठे, 'भई लो, फिर आ गया!' कहते ही हास्य! सब हँसने लगे। मास्टर आकर भूमिष्ठ होकर प्रणाम करके बैठ गए। पहले तो हाथ जोड़कर खड़े होकर प्रणाम किया करते थे, अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा जन जैसे करता है। किन्तु आज उन्होंने भूमिष्ठ होकर प्रणाम करना सीखा है। उनके आसन ग्रहण कर लेने पर, श्रीरामकृष्ण क्यों हँस रहे थे— वही नरेन्द्र आदि भक्तों को समझाते हैं,

“देखो, एक मोर को चार बजे दोपहर को अफ़ीम खिला दी थी।

उसके दूसरे दिन ठीक चार बजे वही मोर आ उपस्थित हो गया— अफ़ीम का मोहतात हो गया है, ठीक समय अफ़ीम खाने आया है।” (सबका हास्य)।

मास्टर मन-मन में सोच रहे हैं, ‘ये ठीक बात ही कह रहे हैं। घर जाता हूँ, किन्तु दिन-रात इनकी ओर ही मन पड़ा रहता है— कब देखूँगा! कब देखूँगा!! यहाँ पर कोई खींच कर ले आया है। मन होने पर भी अन्य स्थान पर नहीं जाया जाता, यहाँ पर आना ही पड़ता है’— इसी प्रकार सोच रहे हैं। इधर ठाकुर लड़कों के संग अनेक हँसी-मजाक करने लगे मानो इनके समवयस्क हों। हँसी की लहर बढ़ने लगी मानो आनन्द की हाट लगी है।

मास्टर अवाक् होकर इसी अद्भुत चरित्र को देख रहे हैं। सोच रहे हैं, ‘क्या इनकी ही पिछले दिन (कल) समाधि और अदृष्टपूर्व प्रेमानन्द देखा था? वही व्यक्ति ही क्या प्राकृत (साधारण) जन की न्यायी व्यवहार कर रहा है? इन्होंने ही क्या प्रथम दिन उपदेश देने के समय मेरा तिरस्कार किया था? इन्होंने ही क्या ‘साकार-निराकार दोनों ही सत्य हैं’, कहा था? इन्होंने ही क्या मुझसे कहा था कि ईश्वर ही सत्य और संसार का समस्त ही अनित्य है? इन्होंने ही क्या मुझसे संसार में दासी की भाँति रहने के लिए कहा था?’

ठाकुर श्रीरामकृष्ण आनन्द कर रहे हैं और मास्टर को एक-एक बार देख रहे हैं। देखा कि वह अवाक् हुआ बैठा है। तब रामलाल को सम्बोधन करके बोले, “देख, इसकी उमर कुछ थोड़ी अधिक है कि ना, जभी तनिक गम्भीर है। ये लोग इतनी हँसी-खुशी कर रहे हैं, किन्तु यह चुप करे बैठा है।”

मास्टर की वयस् तब सत्ताईस वर्ष की होगी।

बातें करते-करते परम भक्त हनुमान की बात चल पड़ी। हनुमान का एक चित्रपट ठाकुर के कमरे की दीवार पर था। ठाकुर बोले,

“देख, हनुमान का क्या भाव है! धन, मान, देह-सुख— कुछ भी नहीं चाहता, केवल भगवान को चाहता है। जब स्फटिक-स्तम्भ से ब्रह्मास्त्र लेकर भागते हैं, उस समय मन्दोदरी अनेक भाँति के फल लेकर दिखाने लगी। सोचा कि फलों के लोभ से नीचे आकर यदि उस अस्त्र को फेंक दे। किन्तु

हनुमान भूलने वाले नहीं। वे बोले—

(गीत— श्री राम कल्पतरु)

आमार कि फलेर अभाव।

पेयेछि जे फल जनम सफल,

मोक्ष-फलेर-वृक्ष राम हृदये ॥

श्री राम-कल्पतरु मूले बोसे रई—

जखन जे फल वाञ्छा सेइ फल प्राप्त होई।

फलेर-कथा कई, (धनि गो) ओ फल ग्राहक नई,

जाबो तोदेर-प्रतिफल जे दिये ॥

[मुझे क्या फलों का अभाव है? मैंने जो फल पाया है, उससे मेरा जन्म सफल हो गया है। मेरे हृदय में मोक्ष-फल के वृक्ष, राम लगे हुए हैं। श्री राम-कल्पतरु के नीचे मैं बैठा रहता हूँ। जब जिस फल की वाञ्छा होती है, वही प्राप्त हो जाता है। हे नारी! तुम जिस फल की बात करती हो, मैं उस का ग्राहक नहीं हूँ। मैं तो तुम्हें प्रतिफल ही देकर जाऊँगा।]

( समाधि-मन्दिर में )

ठाकुर यही गाना गा रहे हैं। और फिर वही 'समाधि'! फिर निस्पन्द देह, स्तिमित लोचन, देह स्थिर। बैठे हुए हैं, जैसे फोटोग्राफर में छवि दिखाई देती है। भक्तगण अभी-अभी इतनी हँसी-खुशी कर रहे थे, अब सब ही एक दृष्टि से ठाकुर की उसी अद्भुत अवस्था का निरीक्षण कर रहे हैं। समाधि-अवस्था का मास्टर ने यह द्वितीय बार दर्शन किया है। अनेक क्षण पश्चात् उस अवस्था का परिवर्तन होने लगा। देह शिथिल हो गई। मुख सहास्य हो गया। इन्द्रियाँ फिर दोबारा अपना-अपना कार्य करने लगीं। चक्षुओं के कोनों से आनन्दाश्रु विसर्जन करते-करते ठाकुर राम, राम— यह नाम उच्चारण करने लगे!

मास्टर सोचने लगे, यही महापुरुष ही क्या लड़कों के संग हँसी-मजाक कर रहे थे? तब तो ये थे बिल्कुल मानो पाँच वर्ष के बालक!

ठाकुर पूर्ववत् प्रकृतिस्थ होकर फिर प्राकृत व्यक्ति की भाँति व्यवहार कर रहे हैं। मास्टर को और नरेन्द्र को सम्बोधन करके बोले, 'तुम दोनों जन

अंग्रेजी में कुछ बातें करो और विचार करो, मैं सुनूँगा।'

मास्टर और नरेन्द्र, दोनों यह बात सुनकर हँस रहे हैं। दोनों जन कुछ-कुछ आलाप करने लगे, किन्तु बंगाली में। ठाकुर के सामने मास्टर का और विचार अब सम्भव नहीं। उनका तर्क का घर ठाकुर की कृपा से एक प्रकार से बन्द ही हो गया है। फिर किस प्रकार तर्क-विचार करेंगे? ठाकुर ने फिर एक बार जिद्द की, किन्तु अंग्रेजी में तर्क करना नहीं हुआ।

### दशम परिच्छेद

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ गीता 11:18

[आप (ही) जानने योग्य परम अक्षर (अक्षर ब्रह्म अर्थात् परमात्मा) हैं, आप (ही) इस सम्पूर्ण जगत् के परम आश्रम हैं, आप ही शाश्वत (सनातन) धर्म के रक्षक हैं, (और) आप (ही) अविनाशी, सनातन पुरुष हैं, (ऐसा) मैं मानता हूँ।]

(अंतरंगों के संग में— 'मैं कौन'?)

पाँच बज गए हैं। भक्त कई तो अपने-अपने घर चले गए हैं। केवल मास्टर और नरेन्द्र रह गए हैं। नरेन्द्र गाड़ू (लोटा) लेकर हंसपुकुर और झाउतले की ओर मुख धोने गए। मास्टर मन्दिर के इधर-उधर टहल रहे हैं। कुछ क्षण पश्चात् कोठी के निकट हंसपुकुर की ओर आने लगे। देखा, पुकुर के दक्षिण की ओर की सीढ़ियों के ऊपर श्रीरामकृष्ण खड़े हैं। ठाकुर कह रहे हैं, "देख और तनिक अधिक-अधिक आया कर। अभी नूतन आने लगा है कि ना! प्रथम आलाप के पश्चात् नए-नए सब ही घना-घना आते हैं, जैसे नूतन पति। (नरेन्द्र और मास्टर का हास्य)। क्यों, आएगा ना?"

नरेन्द्र ब्राह्मसमाज का लड़का है। हँसते-हँसते कहने लगा : हाँ, चेष्टा करूँगा।

सब कोठी की राह से ठाकुर के कमरे में आते हैं। कोठी के निकट मास्टर से ठाकुर कहने लगे, "देखो, किसान बाज़ार में बैल खरीदने जाते हैं।



वे भले बैल और मन्दे बैल को खूब पहचानते हैं। पूँछ के नीचे हाथ देकर देखते हैं। कोई-कोई बैल पूँछ में हाथ देने पर लेट जाता है। उस बैल को नहीं खरीदते। जो बैल पूँछ में हाथ देने पर तिडिंग-मिडिंग (छिनमिना) कर उछल पड़ता है, उसी बैल को पसन्द करते हैं। नरेन्द्र है उसी बैल की जात, भीतर खूब तेज है।”

यह कहकर ठाकुर हँसते हैं।

“और फिर कोई-कोई जन होता है, जैसे भीगा चिड़वा, तेज नहीं, जोर नहीं, गिल-गिल करता है।”

सन्ध्या हो गई। ठाकुर ईश्वर-चिन्तन करते हैं। मास्टर से कहा, “तुम नरेन्द्र के संग बातचीत करो, मुझे बताना कैसा लड़का है?”

आरती हो गई। मास्टर काफी देर पश्चात् चाँदनी के पश्चिम की तरफ नरेन्द्र को मिले। परस्पर बातचीत होने लगी। नरेन्द्र ने बताया, ‘मैं साधारण ब्राह्मसमाज का हूँ, कॉलेज में पढ़ता हूँ’ इत्यादि।

रात हो गई है। मास्टर अब विदा ग्रहण करेंगे। किन्तु जा नहीं पा रहे हैं। तभी नरेन्द्र के निकट से आकर ठाकुर श्रीरामकृष्ण को खोजने लगे। उनका गाना सुनकर हृदय-मन मुग्ध हो गया है। बड़ी साध है कि फिर उनके श्रीमुख से और गाना सुनें। खोजते-खोजते देखा, माँ काली के मन्दिर के सम्मुख नाट-मन्दिर के मध्य ठाकुर एकाकी टहल रहे हैं। माँ के मन्दिर के दोनों ओर प्रकाश जल रहा था। बृहत् नाट-मन्दिर में एक ही रोशनी जल रही थी, क्षीण आलोक। आलोक और अन्धकार मिश्रित होने से जैसा होता है, उसी प्रकार का नाट-मन्दिर में दिखाई दे रहा था।

मास्टर ठाकुर का गाना सुनकर अपने को भूल गए हैं। जैसे मन्त्र-मुग्ध सर्प। अब संकुचित भाव से ठाकुर से पूछा, “आज और गाना होगा?”

ठाकुर ने सोचकर कहा, “नहीं, आज और गाना नहीं होगा।”

यह कहकर जैसे कुछ याद आ गया, झट बोले, “तो भी एक काम करो। मैं बलराम के घर कलकत्ता जाऊँगा, तुम आना। वहाँ पर गाना होगा।”

मास्टर— जी अच्छा।

श्रीरामकृष्ण— तुम जानते तो हो, बलराम बसु को ?

मास्टर— जी नहीं।

श्रीरामकृष्ण— बलराम बसु। बोस पाड़े में घर है।

मास्टर— जी अच्छा, मैं पूछ लूँगा।

श्रीरामकृष्ण (*मास्टर के संग नाट-मन्दिर में टहलते-टहलते*)— अच्छा, तुम से एक बात पूछता हूँ— मुझे में तुम्हें क्या बोध होता है ?

मास्टर चुप रहे। ठाकुर फिर कहते हैं—

“तुम्हें कैसा लगता है, मुझे कितने आने ज्ञान हुआ है ?”

मास्टर— ‘आना’ यह बात तो नहीं समझ सकता, तो भी ऐसा ज्ञान, प्रेम, भक्ति वा विश्वास वा वैराग्य वा उदार भाव कभी भी, कहीं भी नहीं देखा।

ठाकुर श्रीरामकृष्ण हँसने लगे।

इस प्रकार बातचीत के बाद मास्टर ने प्रणाम करके विदा ली।

सदर फाटक तक आकर फिर कुछ स्मरण हो आया, झट लौट आए। फिर दोबारा नाट-मन्दिर में ठाकुर श्रीरामकृष्ण के पास आ उपस्थित हुए।

ठाकुर उसी क्षीण आलोक में टहल रहे थे— एकाकी, निःसंग। पशुराज जैसे अरण्य में अपने आप एकाकी विचरण करता है। आत्मराम; सिंह अकेला रहना, अकेला टहलना पसन्द करता है! अनपेक्ष! मास्टर अवाक् होकर फिर वही महापुरुष-दर्शन करते हैं।

श्रीरामकृष्ण (*मास्टर के प्रति*)— फिर लौट आए ?

मास्टर— जी, बड़े मनुष्य के घर में जाने देंगे कि नहीं, तभी सोच रहा हूँ, नहीं जाऊँगा। यहाँ पर आकर ही फिर आप को मिलूँगा।

श्रीरामकृष्ण— नहीं जी, वैसा क्यों ? तुम मेरा नाम लेना। कहना, उनके पास जाऊँगा, वैसा करने पर ही कोई मेरे पास ले आएगा।

मास्टर ने ‘जो आज्ञा’ कहकर फिर प्रणाम करके विदा ली।

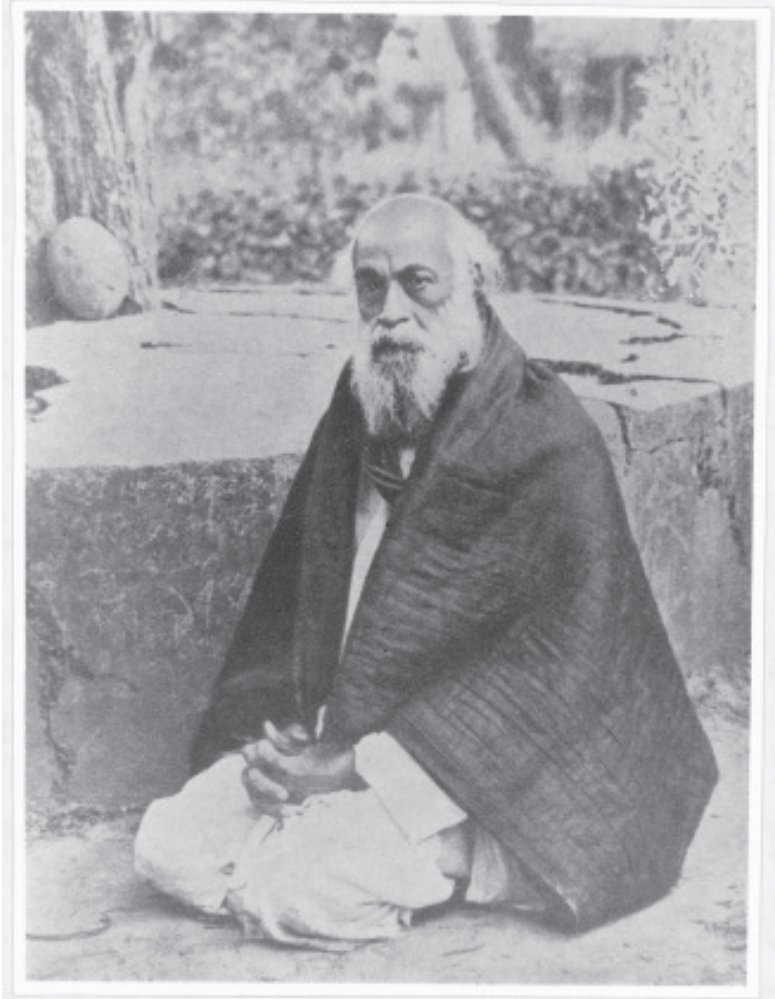


# **The Gospel of Sri Ramakrishna\***

First Four Visits of 'M.'

---

\* M.'s on rendering of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in English published in 1911.



Sh. Mahendra Nath Gupta  
(14-07-1854 — 04-06-1932)

SECTION I  
**SRI RAMAKRISHNA AT DAKSHINESWAR**  
1882

CHAPTER I

**The First Meeting With the Master**

It is the spring of 1882, the season of flowers and of the sweet southern breeze. The sun is about to set on the Temple of the Mother of the Universe one pleasant day in the month of March. All nature smiles and rejoices. At such a time came about M.'s first vision of the God-man.

The Temple of the Mother where Sri Ramakrishna has made his abode for years is on the eastern bank of the Ganges in the village of Dakshineswar, about four miles north of Calcutta.

He is sitting on the lounge (the smaller of the two bedsteads<sup>1</sup>), in his own chamber which looks on the sacred waters of the Holy Stream (the Ganges) as it flows past. The disciples and other devotees are seated on the floor. They look on his benign and smiling face and drink the nectar of the living words that fall from his hallowed lips.

Facing the east and smiling, the Master talks of the Lord.

M. looks in and stands speechless; M. wonders if It is Sukadeva<sup>2</sup> before him that talks of the Lord? M. feels as if he were standing on a spot to which have come together the

---

1. Takhtaposh

2. The holy sage who loved the Lord from his childhood.

various holy places of pilgrimage to hear the Divine Preacher that is seated before him. It might have been the Lord Gourāṅga Deva (Chaitanya) seated before him with Rāmānanda, Swarup and other beloved disciples in the Holy Land of Puri<sup>3</sup> singing forth the sacred name of the Beloved Lord and His glorious works.

**[Renunciation of work for the Lord]**

Sri Ramakrishna speaks, saying: Suppose at the Name<sup>4</sup> of the Lord your hair stands on end or tears of joy start from your eyes; verily I say unto you the term is over of your 'work for the Lord'; for instance, the daily service<sup>5</sup>— morning, noon and evening, laid down for the twice-born. Then and not till then have you the right to give up work<sup>6</sup>, then indeed work will drop off of itself. When this state of the soul is reached, the devotee need only repeat the name of the Lord (Rama, Hari or simply the symbol Om). That will suffice; no other work need be done.

Again says the Master: Sandhya ends in Gāyatri<sup>7</sup>; Gāyatri, in the simple symbol Om<sup>8</sup>.

M. is staying at Barahanagar (near Dakshineswar). He has come with Sidhu, a friend, to the Temple-garden in the course of an evening walk. It is Sunday and M. is free

- 
3. Puri, in Orissa, has the temple of Jagannath. Gouranga (Chaitanya) was here for about the last twenty-four years of his life.
  4. Hari or Rāma.
  5. Sandhyā
  6. Karma
  7. Gāyatri, the Vedic Mantra (sacred text) which the Brahmin and other twice-born Hindus repeat every day while meditating upon the Supreme Being.
  8. Om, Vedic symbol for the Supreme Being. This is the sacred unspoken syllable of the Hindus.

from work.

In the course of his walk, M. had first visited the garden-house of P. Banerjee. There Sidhu had said to him, "There is a beautiful garden on the bank of the Ganges. Let us go there. A holy man dwells there called the Paramahansa."

M. stands speechless! He thinks within himself: How charming is this place! What a man! How sweet and charming are his words! The very idea of leaving this place troubles the soul. But let me first look about and form a clear idea of the Temple. I will then come back and sit at his feet.

M. comes out of the room into the quadrangle. He begins to visit the temples of God the Father<sup>9</sup>, of God Incarnate as Love<sup>10</sup> and lastly, that of God the Mother<sup>11</sup>.

It is just evening—the time of Divine Service. The priests are waving the lights before the sacred Images to the accompaniment of bells, cymbals and drums. From the southern end of the Temple-garden is wafted upon the soft southern breeze, sweet music, melody after melody played by the temple orchestra upon flageolets and other instruments. That music is carried far over the bosom of the Ganges until it is lost in the distant Immensity! The breeze that blows from the south, how gentle and fragrant with the sweet fragrance that comes from many a flower! The moon is just up and the temple and the garden are soon bathed in the soft silvery light. It seems as if Nature and Man both rejoice and hold themselves in readiness for the evening service.

M.'s joy is full at the blessed sight. Sidhu speaks to M., saying: This is Rāshmani's temple. Here the Gods are

---

9. Siva

10. Rādhākānta

11. Kāli - God in His relations to the conditioned and the finite, as distinguished from Brahman or God the Absolute

ministered unto from day to day—from morning till night. Here too holy men and the poor are daily fed out of the offerings made to the Deity.

The two friends wend their way through the grand quadrangle back towards Sri Ramakrishna's chamber. Coming up to the door of the room they notice that it is closed. M. has learnt English etiquette and thinks it will be rude to try to enter without leave.

The incense has burnt a little while before.

At the door stands Brinda, the maid-servant. M. talks to her.

M. : Well, my good woman, is he in— the holy man?

Brinda: Yes, he is inside this room.

M.: How long has he made his abode here?

Brinda: O, many many years.

M.: I suppose he has many books to read and study.

Brinda: O dear, no; not a single one. His tongue talks everything— even the highest truth! His words come from above.

M. is fresh from college. He is told the Master is not a scholar! At this he stands aghast— speechless with surprise!

M.: Very well. Is he now going on with his evening worship<sup>12</sup>? May we come in? Will you be so kind as to tell him that we are anxious to see him?

Brinda: Why, you may go in, my children; do go, and take your seats before him.

Thereupon, they enter the room. No other people are there. The Master is seated alone on the smaller of the two bedsteads.

---

12. Sandhyā



Incense is burning and the doors are closed. M. salutes with folded hands. A mat is spread on the floor. At his word, M. and Sidhu take their seats.

The Master makes many kind enquiries: What is your name? Where do you live? What are you? What has brought you to Barahanagar? etc., are some of the questions put to M. M. answers all these; but he notices that even as he speaks, Sri Ramakrishna gives his mind to some other subject on which he appears to be meditating.

Is this God-consciousness? It calls up to M.'s mind the image of a man sitting, rod in hand, on the edge of a lake. The float trembles just as the fish bites at the bait. Eagerly the man looks at the float. He grasps the rod with all his mind and strength. He talks to no one but is all-attention.

M. heard later on that he was put into a peculiar state of God-consciousness<sup>13</sup> several times every day, when he lost all sense of the external world.

M. (to Sri Ramakrishna): I am afraid, Sir, you will have still to go through your evening worship<sup>14</sup>. In that case we must not trouble you any more to-night, but call at another time.

Sri Ramakrishna : No, no, you need not be in a hurry.

He is silent again for a time. When at last he does open his lips, he says in a dreamy tone, 'Evening worship? No, no, it is not that.'

A short while after, M. salutes the Master. He bids him good-bye, saying: Come again.

On his way back to Barahanagar, M. says to himself: Who may this God-man be? How is it that my soul longs to see

---

13. Samādhi

14. Sandhyā

him again? Is it possible that a man may be great and yet not a scholar? \* \* \* What means this yearning of the soul for him?— He has bidden me come again. I must come tomorrow or at the latest, the day after.

## CHAPTER II

### Master and Disciple

A couple of days after, at about eight in the morning, M. called again.

The Master is going to be shaved by the barber. The winter cold is still lingering and he has on a moleskin shawl hemmed with red muslin. On seeing M. the Master says, Well, you are come. Very good. Take your seat here.

It was on the southern verandah leading to his room that the meeting took place. Seated before the barber, he had a pair of slippers on and the shawl described above.

He talks to M. while the barber is attending to him. His face is, as usual, smiling. Only he stammers a little, while talking.

Master (to M.): Where is your home?

M.: In Calcutta, Sir.

Master : With whom have you been staying here at Barahanagar?

M.: With my sister, Sir, at Ishan Kaviraja's house.

**[Keshab Chandra Sen]**

Master: At Ishan's? O, I see. Do you know how Keshab is doing at present? I heard he was seriously ill.

M.: Yes, Sir, I too heard the same. I trust by this time he is doing well.

Master.: I made a vow to offer gifts— green coconuts and sugar - to the Divine Mother for Keshab's recovery. I would sometime wake up in the middle of my sleep at night and cry out: O Mother, grant that Keshab may get well. If Keshab does not live, whom shall I talk with, Mother, when I go to Calcutta?

Do you know that one Mr. Cook has recently been in Calcutta. He has, I think, been delivering lectures. Keshab took me on board a steamer the other day and he was there.

M.: Yes, Sir, I have heard a good deal about him. I have never had any occasion to hear him giving lectures. Nor do I know much about him.

**[Duty of a father]**

Master Pratap's brother came and stayed here for a few days. He said he had come here to stay. He had no work to do, and he had left his wife and children in the care of his father-in-law. But here we took him to task for his want of self-respect. Do you not think it very wrong of him to go about in such a way when he has so many children to bring up? Must strangers come to feed and look after them? I wonder he is not ashamed that somebody else has to take care of his family— that his father-in-law should be asked to bear his burden! I rated him rather severely and told him to look about for work. It was when his folly was thus pointed out to him that he went away.

[The Master reproves M. for having married.]

Master (to M.): Are you married?

M. : Yes, Sir.

Sri Ramakrishna, startled at these words, said: Ah Me! He has already taken a wife! May the Lord help him.

At these words M. was covered with confusion. He sat speechless, hanging down his head like one guilty of a serious offence. He then says to himself: Is marrying then so wicked?

Master: Have you any children?

M. can hear the beating of his own heart! Yes, Sir, he answers in a feeble voice.

The Master is shocked. He rebukes M., saying: Alas! and there are children too to bring up!

M. feels that a terrible blow has been dealt to his egotism.

After a while the Master looks up kindly and says in an affectionate tone: You see, my boy, there are some good signs about you. I know them by looking at the eyes and the brow. The eyes of Yogis have a peculiar look—those that in previous incarnations passed their days in communion with God. In the case of some it seems as if they have just left the seat<sup>15</sup> of divine contemplation!

Well, now, your wife— what do you think of her? Is she of a divine nature<sup>16</sup> leading Godward and to light? Or the reverse, leading only to darkness<sup>17</sup> and away from God?

M.: She is good enough, but ignorant.

Master (*sharply*): She is ignorant and *you* are wise! You think you have attained wisdom! Do you?

---

15. Āsana

16. Vidyā Shakti

17. Avidyā Shakti

M. knows not what wisdom and ignorance truly consist in. His idea is that a wise man is he who reads books. [This false notion was of course afterwards taken away and he was then taught that to know God is alone true wisdom and not to know Him ignorance.]

When the Master said, "Do you think you have attained wisdom?" M.'s egotism received a second blow.

**[Image worship: Is God with form or without form?]**

Master: Do you like to meditate upon God as 'with form' or 'without form'?

This question makes M. again look confused and sets him thinking: Is it then possible that one could have faith in the Formless God, and at the same time believe that He *has* a form? Or if one believed Him to be 'with form', how could one also think that He is 'formless'? Could two contradictory attributes co-exist in the same substance? Could white things like milk be black also at the same time?

After thinking for a while M. said: I should like Sir, to meditate upon God as the Formless rather than as a Being 'with form.'

Master: That is good. There is no harm in looking at Him from this or that point of view. Yes, yes, to think of Him as the Formless Being is quite right. But take care you do not run away with the idea that that view alone is true and all others false. Meditating upon Him as a Being 'with form' is equally right. But you must hold to your particular point of view until you realise— until you *see* God, when everything will become clear.

At this M. becomes once more speechless. He hears again and again from the lips of the Master that *contradictories are*

true of God! Never has he come across so strange a thing in all his books and to these his learning is confined. His egotism has received another blow, but it is not yet completely knocked down and crushed. So he goes on questioning and reasoning a little with the Master.

M.: Then, Sir, one may hold that God is 'with form.' But surely He is not the earthen images that are worshipped.

Master: But my dear Sir, why should you call it an earthen image? Surely the Image Divine is made of the Spirit!

M. cannot follow this. He goes on: But is it not one's duty Sir, to make it clear to those who worship images that God is not the same as the clay forms they worship, and that in worshipping they should keep God Himself in view and not the clay images?

**[Public lectures and Sri Ramakrishna]**

Master (sharply): It has grown to be a fashion with you Calcutta people, to think and talk and only of 'lecturing' and 'bringing others to light!' Pray, how are you going to bring light unto your own self? Eh? Who are *you* to teach others? The Lord of the Universe will teach mankind if need be—that Lord Who has made the sun and the moon, men and brutes, the Lord Who has made things for them to live upon, Who has made parents to tend and rear them—that Lord Who has done so many things, will He not do something to bring them also to light? Surely, if need be, He will! He lives in the temple of the human body. He knows our inmost thoughts. If there is anything wrong in image worship, does He not know that all the worship is meant for Him? He will be pleased enough to accept it knowing that it was meant for Him alone. Why must you worry yourself about things above you and

beyond your reach? Seek to know and revere God. Love God. That is the duty nearest you.

M.'s egotism is now completely crushed. He thinks to himself: What this God-man says is indeed perfectly true. What business have I to go about preaching to others? Have I myself known God? Do I love God? It is, as the proverb has it, like bidding my friend Shankara to lie down on my bed when there is no bed even for myself to lie upon! About God I know nothing. It would indeed be the height of folly and vulgarity itself—of which I should be ashamed—to think of teaching others! This is not mathematics or history or literature, it is the science of God! Yes, I see the force of the words of this holy man.

This was M.'s first attempt to argue a point with the Master, and happily the last.

Master: You were talking of 'images made of clay.' Well, there often comes a necessity of worshipping even such images as these. God Himself has provided these various forms of worship. The Lord has done all this—to suit different men in different stages of knowledge.

The mother so arranges the food for her children that every one gets what agrees with him. Suppose she has five children. Having a fish to cook, she makes different dishes out of it. She can give each one of her children what suits him exactly. One gets rich *pulow* with the fish, while she gives only a little soup to another who is of weak digestion; he makes a sauce of sour tamarind for the third, fries the fish for the fourth and so on; exactly as it happens to agree with the stomach. Don't you see?

M.: Yes, Sir, now I do. The Lord is to be worshipped in the image of clay *as a spirit* by the beginner. The devotee, as he advances, may worship him independently of the Image.

Master: Yes. And again when he *sees* God, he realizes that everything— image and all— is a manifestation of the Spirit. To him the Image is made of Spirit— not of clay. God is Spirit.

M.: Sir, how may one fix one's mind on God?

### [The Value of Solitude]

Master: To that end one must chant without ceasing the Name of God and His great Attributes. One ought always to seek the company of holy men. One must always go among the Lord's devotees or those that have given up things of this world for the sake of the Lord. It is hard, no doubt, to fix one's mind on God in the midst of the world's cares and anxieties. Hence, one must go into solitude now and then in order to meditate on Him. In the first stage of one's life in the Spirit, one cannot do without solitude.

When plants are young, they have need of a hedge to be set about them for their protection; or else goats and cows will eat them up.

The Mind, the retired Corner, and the Forest are the three places for meditation<sup>18</sup>. One must also practise discrimination<sup>19</sup> between the Real (God) and the Unreal (the phenomenal world). Thus, a man may be able to shake off his attachment to the things of this world, to wealth, fame, power and pleasures of the senses.

M.: Sir, how ought one to live in the world as a householder?

---

18. Dhyāna.

19. Vichāra.



**[Problem of Life: How solved for the House-holder]**

Master. Do all your duties with your mind always fixed on God. As for your parents and wife and children, serve them as if they were you own, but know in the inmost recesses of your heart that they are not really yours, unless they too love the Lord. The Lord alone is really your own, and also those who love the Lord.

A rich man's maid-servant will do all her duties, but her thoughts are always set upon her own home. Her master's house is not hers. She will, indeed, nurse her master's children as if they were her own, saying often; 'My own *Rāma*,' 'My own *Hari*.' But all the while she knows fully well the children are not hers.

The tortoise moves about in the water in quest of food; where do you think her mind abides? On the bank of the river to be sure— where her eggs are laid. In the same way you may go about doing your work in the world, but take good care that your mind always rests at the Hallowed Feet of the Lord.

Suppose you enter the world before you have acquired by means of spiritual exercises<sup>20</sup> a deep love<sup>21</sup> for the Lord, then, you may depend upon it, you shall get entangled. Grief, misfortune, and the various ills that flesh is heir to, will make you lose your balance of mind. The more you will throw yourself into the affairs of the world and trouble yourself with worldly matters, the more will become your attachment to the world.

First rub the hand with oil if you wish to break open the jack-fruit. Otherwise the milky exudation will stick to your hands. First anoint your hands with the oil of devotion<sup>22</sup> and

20. Sādhana.

21. Bhakti.

22. Bhakti.

then deal with the affairs of the world.

**[Divine Contemplation in Solitude]**

But to this end solitude is the one thing needful: Suppose you want to make butter, then let the curds be set in some place out of reach. They will not set if they are disturbed. The next step for you is to begin churning, seated in a quiet place.

If you give your mind to God in solitude, you will receive the spirit of renunciation<sup>23</sup> and devotion. If you give the same mind to the world, it will become vulgar and think only about the world which is another name for 'Woman and Gold.'<sup>24</sup>

The world may be likened to water and the mind to milk. Milk once mixed with water cannot be brought back to the pure state again. Its purity is kept only in another state, that is, if it is first turned into butter and then placed in water. Let the milk of your mind then be turned into the butter of Divine Love<sup>25</sup> by means of religious practices<sup>26</sup> done in solitude. The butter will then never mix with the water but will come up to the surface. In like fashion, your mind will remain unattached to the world. Though in the world, it will not be of the world. True knowledge<sup>27</sup> or devotion being once attained, it now stands apart unattached to the world.

Along with this, practise discrimination. 'Woman and Gold' are both unreal; the one Reality is God. What use has money? Why, it gives us food and clothes and a place to live

---

23. Tyāga.

24. Sri Ramakrishna's own position was that woman should be renounced until the realisation of God — after which she should be worshipped as a manifested form of the Deity.

25. Bhakti

26. Sādhana

27. Jnāna

in. Thus far it serves, and no further. Surely, you cannot see God with the help of money. Money is certainly not the end of life. This is the process of discrimination. Do you see?

M.: Yes, Sir, I do. I recently had occasion to go through a Sanskrit play, called *Prabodh Chandrodaya*, Therein I read of discrimination.

Master: Yes, yes, discrimination. Tell me, what is there in money or in the beauty of woman? Using your discrimination, you shall find that the body of the most beautiful woman is made up only of flesh and blood, skin and bones, fat and marrow,— nay, of the entrails, as in the case of other animals, of urine and excreta, and the rest. The wonder is that a man can lose sight of God and give his mind entirely to things of such a kind!

M.: Sir, is it possible to see God?

#### [How to see God]

Master: Certainly; there is no doubt about it. These are some of the means by which one can see God:— One may go from time to time into solitude and chant His Names and His Attributes; one may strive for discrimination; and then one may offer earnest prayer with a yearning for the Lord.

M.: Sir, what state of the mind leads to God-vision?

Master: *Cry unto the Lord with a yearning heart and you shall see Him.* People would shed a jugful of tears for the sake of *wife and children!* They would suffer themselves to be carried away on the stream of their own tears, weeping for the sake of *money!* But who ever cries out for the Lord? Cry to him not to make a show— but with a longing and yearning heart.

The rosy light of the dawn comes before the rising sun. Likewise is a longing and yearning heart the sign of the God-

vision that is to come.

You may *see* God if your love for Him is as strong as the three attachments put together, namely, the attachment of a worldly man to the things of the world, the attachment of a mother to her child, and the attachment of a chaste and devoted wife to her husband.

The thing is that in order to see God, one must love Him, heart and soul. One must offer one's prayers so that they may reach the Divine Mother.

The kitten knows only to cry to its mother, crying 'mew' 'mew'. All the rest, the mother-cat knows. She hides her young wherever she pleases— now in the kitchen, and again in the soft downy bed of the householder. Yes, the kitten knows only to cry to its mother.

### CHAPTER III

#### M. Meets Vivekananda

M. is putting up at his sister's house in Barahanagar, which is about a mile distant from the Temple. Since he saw Sri Ramakrishna, M. has never ceased to think of him. It seems as if he has always before his eyes the smiling face of the Master— that he is always listening to his words, sweet as nectar. How could this poor Brahmin, M. think within himself, have gone into these deep problems of life and soul! And his teachings, how clear they are! M.'s feelings are worked up to a high pitch of excitement; and he thinks day and night of taking the earliest opportunity to see him a second time. The following Sunday between three and four in the afternoon he comes again to the Temple in the company of Nepal Babu of Barahanagar.

The Master is in the same room as before, seated on the lounge. The room is filled with devotees. It is Sunday and they are free. M. does not as yet know any of them. After saluting him with folded hands, M. takes his seat on one side. The Master smilingly talks on with the devotees who are present.

**[Vivekananda: How to deal with bad men]**

M. observes that the Master's words are specially addressed to a young man called Narendra (Vivekananda) who is now only nineteen years old. He is a college student and a member of the *Sādhāran Brahma Samāj*. His words are full of spirit. His eyes are large and dark. They beam with intelligence and tell of the great soul within. He has the looks of one who loves the Lord.

M. sees that the subject of talk is the conduct of worldly men— of such persons as throw ridicule upon those who seek after God. The question is, how to deal with such people?

Master (*smiling, to Narendra*): What do you say, Narendra? Worldly men say all manner of things against the godly. When the elephant wends its way along the public road, there are, indeed, a lot of curs and other animals running after, barking and clamouring. But it turns a deaf ear to all their noise and goes its way. Suppose, my boy, people do speak ill of you behind your back. What will you think of them?

Narendra: I shall look upon them as street dogs barking behind me.

Master (*laughing*): No, my child, you must never go quite so far as that (laughter). Know that God makes His abode in all things— animate and inanimate. Hence, everything should be the object of our worship, be it man or beast, bird, plant or mineral.

In our dealings with men all that we can do is to take heed that we mix with the good and avoid the company of bad people. True that God is even in the tiger; but surely it does not follow that one should fall on its neck and hug the brute to one's bosom. (*Laughter.*)

Some one may say, but why should I run away from the tiger seeing that after all it is God in one form? To this the answer is, that those who wish you to run away from the tiger are also God manifested in other forms. Why should we not pay regard to their words?

In a certain forest there lived a holy man who had a number of disciples. One day he taught them saying, 'God is in all things; knowing this we should bend our heads in adoration before every object in the world'. It chanced that a disciple of his went out to gather firewood for the sacrificial fire. Suddenly he heard a shout, 'Get out of the way! Get out of the way! Here comes an elephant rushing madly about!' At this everyone ran away except this disciple. He reasoned within himself, 'The elephant is God in one form; why then should I fly away?' So he stood where he was, saluted the elephant as the Lord, and began to chant His praises. The driver of the elephant continued to shout 'Run away! Run away!' but this disciple would not stir a single step. At last the elephant seized him with his trunk and cast him to one side. The poor boy, stunned, scratched and torn, lay bleeding on the ground.

His master heard of this and came with his other disciples to the spot. They carried him home and applied restoratives. When he came to himself they asked him, 'Well, why did you not quit the spot when you heard the man shouting that the mad elephant was coming?' The boy answered, 'Our master once told us that it is God who reveals Himself in man and in

every other living creature. I looked on the Elephant-God and thus did not care to quit the spot.' His Guru said, 'My son, it is indeed true that it was the Elephant-God that was coming, but the Driver-God, did he not warn you to get out of the way? It is true that God manifests Himself forth in everything. But did He not warn you to get out of the way as the Driver-god? It is true that God manifests Himself forth in everything. But if He is manifest in the elephant, is He not equally, or more, manifest in the driver? Tell me, then, why you paid no heed to His warning voice.'

In the Sacred Books, it is written that Water is the same as God Himself. But some water is fit to be used for divine service, some only for washing plates or soiled linen, or for washing the face and the hands after meals. The latter may not be used for drinking or for the service of the altar. In the same way there are good men and bad men, lovers of God and those who do not love Him. In the hearts of them all, indeed, God abides. But one cannot have dealings with bad men and those who love not God. Our relations with such cannot be very close. With some, indeed, a nodding acquaintance is all that is possible. With many others even that is out of the question. It is meet to live apart from such people.

**[Vivekananda: Doctrine of Non-Resistance]**

Narendra: Should we hold our peace, if evil men come to offend us or actually do so?

Master: A man living in society, especially as a citizen and a house-holder, should *make a show* of resisting evil for the sake of self-defence. At the same time, care should be taken to avoid paying back evil for evil.

In a field, certain cow-boys kept watch over their cattle. In that same field was a terrible and venomous serpent. One day there came a holy man that way. The boys ran up to him and said, 'Your Holiness, please go not that way. A tremendous snake is over there.' 'My children,' said the holy man, I thank you, but I am not afraid of your snake. I know holy texts<sup>28</sup> that will keep me from harm of all kinds.' So saying he wended his way in that direction. The boys did not go with him—they were so much afraid of the snake. At the sight of the holy man the snake came swiftly towards him with its hood raised. He muttered a spell, and it fell at his feet as helpless as an earthworm.

'Well,' said the holy man, 'Why do you go about doing evil to others? Let me give you a Holy Name (of God). Repeat this always and you will learn to love God; you will see Him in the end; the desire to do evil to others will at the same time leave you. The snake had the Holy Name whispered into its ear. It bowed down before its preceptor and said 'O Lord, what more must I do in order to get salvation'?. 'Repeat the Holy Name,' said the teacher, 'and do no harm to any living thing. I shall come again and see how you fare.' So saying he went away.

Some days passed. The cow-boys noticed that the snake would not bite. They pelted it with stones. But it only looked as meek and inoffensive as an earthworm. One of the boys took it one day by the tail, and whirling it round, dashed it several times against the ground. The snake vomited blood, was stunned and left for dead.

Late at night it came to life again. Softly and slowly, it moved and dragged itself into its hole. Its body was broken. In the course of a few days, it was reduced to a skeleton, and

---

28. Mantras.



it was many many days before it could even come out of its hole to look for food. For fear of the boys, it would come out only by night. Ever since its initiation by the holy man it had ceased to do harm to any creature of God. It tried to live as well as it could on leaves of plants and things of that kind.

The holy man<sup>29</sup> soon came back. He looked about, seeking the snake; but in vain. At last the boys said that it was no more. It was hard for the holy man to believe this, for he knew that the Name of the Lord which it repeated carried such spiritual power that death was out of the question before the problem of life had been solved, that is to say, before it had seen God. So he made a search and called it repeatedly by its name. The snake came out of its hole and bowed down before its preceptor. They talked to each other thus:

Holy man: Hallo, how are you doing?

Snake: O Lord, I thank you. By the grace of God I am quite well.

Holy man: How is it then that you are brought down to mere skin and bone? What is the matter?

Snake: Lord, in obedience to your bidding, I strive to do no harm to any living creature. I feed upon leaves and things of that kind. Thus it may be that I am thinner than before.

Holy man: Well, I am afraid it is not the food alone that has brought you to this pass! There must be something else to do with it. Just think it over.

Snake: Ah, now I see it all! The cow-herds dealt with me rather severely one day. They held me by the tail and dashed me against the ground with great force— several times. They, poor fellows, had no idea what a great change had come over me! How could they know that I was not going to bite anyone

---

29. Mahātma.

or do them the least harm?

Holy man: What nonsense! You must be an idiot not to know how to save yourself from being handled in such a fashion by your enemies. What I forbade you was to *bite* any of God's creatures. Why did you not *hiss* at those who wanted to kill you so as to put them in fear of you?

Sri Ramakrishna then went on saying: So raise the hood and hiss, but don't *bite*. There is no harm in hissing at bad men, your enemies. Keep them off by showing that you are ready to give tit for tat— that you know how to resist evil. Only one must take care not to pour one's venom into the blood of one's enemy. Resist not evil by doing evil in return. All that you may do is to make a show of resistance with a view to self-defence.

**[The Problem of Evil: Are all men equal?]**

A Disciple: Sir, why are there bad men in God's world? Why is there Evil in this World?

Master: In God's Creation, diversity is the universal rule. There must be evil as well as good. Again, there are various kinds of objects— animals, plants, minerals. Amongst animals again, there are some which are gentle and inoffensive, and others which, like the tiger, are ferocious and live upon other animals. Some trees bring forth good fruits, sweet as nectar: while others bring forth poisonous fruits which cause death. Likewise there are good men and bad men, holy men and those who are sinful. Some, again, are just and devout and others are attached to the world.

Men may be divided into four classes: (1) Worldly men<sup>30</sup> (those who are bound in the fetters of the world); (2) The

---

30. Baddha.

Seekers<sup>31</sup> after Liberation; (3) The Liberated<sup>32</sup> and (4) The Ever Free<sup>33</sup>.

The **Ever-Free**, like Nārada, the Holy Sage, are those who abide in the world for the sake of others— in order to teach the Truth to others.

The **Worldly** are they who are attached to the little things of this world— money, honours, titles, sense pleasures and power. They forget God and never give a thought to Him.

The **Seekers after Liberation** do their best to avoid the world, made up as it is of Woman and Gold. But it is given to only a few amongst them to find what they seek, namely, Liberation.

The **Liberated** are those who are not attached to either Woman or to Gold. Holy men are examples of these. In their minds there is not a trace of attachment to the things of this world. They meditate always on the Hallowed Feet of the Lord.

Suppose a net is cast into a tank. Some of the fish are much too clever for the fisherman and take care never to be caught. But these may be counted on one's fingers, and to them may be likened the Ever-Free.

But most of the fish are caught in the net. Of these, some try their best to make their escape. Such are the Seekers after Liberation, and of these a couple or so only are able to leap out of the net into the water. We often see such; they leap out with a splash, the fisherman as well as others shouting 'Look! Look! There is a big fish getting away!'

But most of the fish are not able to get out at all. And

---

31. Mumukshu.

32. Mukta

33. Nitya Mukta

what is more, they do not want to get out! They would rather rush into the mud at the bottom of the tank, head foremost, entangled in the net as they are, and there lie still; thinking all the while, 'We are quite safe and secure, and we need fear no more.' The poor things know not that in a short while the fisherman will draw them in the net to the land. To these last may be compared the 'Worldly.' They feel secure in their muddy homes; but alas, they are entangled in the meshes of the world, soon to be deprived of the water of life and hauled up to the land to be killed!

The bondage of the world is bondage made up of the fetters of 'Woman and Gold.' Worldly men are bound hand and foot. They think they will find peace and rest and security in the mud at the bottom of the tank, that is to say, in 'Woman and Gold' They know not that these cause the death of the soul. When one of these 'Worldly' men is on his deathbed, his wife says to him, 'You are departing from this world, but what property do you leave to me?' The wife speaks not one word about the Lord. The dying man himself is so much attached to the world that the light of a lamp burning in the sick-room troubles him and he cries out, 'Who is there? See that not more than one wick is burnt and that no more oil is wasted than is absolutely needed.'

The worldly man does not think of God. If he has time and nothing to do, he will either talk empty twaddle or do things that are of no use to anybody. Upon being asked, he says 'To sit still I am not able. Hence am I planting a hedge.' Time hangs heavy on his hands. So he must play at cards or at dice! (*Deep Silence in the room.*)

**[The Power of Faith]**

A Disciple: But a man of the world, Sir— how may he be saved? Is there no help for him?

Sri Ramakrishna: Certainly. Let him seek the company of holy men. Let him from time to time go away from his family into retirement, in order to meditate upon the Lord. Let him practise discrimination. Let him pray earnestly to the Divine Mother, saying, 'O Mother, grant unto me love and faith.' Once you get faith, your work is done. *Verily, verily, there is nothing higher than faith.*

(To Kedar): You must have heard of the power of faith. Rāmachandra was God Incarnate; you know how he had to build a bridge across the sea (between India and Ceylon<sup>34</sup>). But Hanuman, the great lover of the Lord, had infinite faith in the power of His Name. He repeated that Name and behold, he found himself at once on the other side! Here, you see, to show the power of faith, the Lord Himself had to build a bridge while the devotee who had faith in His Name needed no bridge to carry him across. (*The Master and his disciples all laugh.*)

**[The Sinner and the power of God's Name]**

Another devotee wrote the name of Rāma on a leaf and handed it to a man who wanted to cross the sea, saying, 'Fear not, my friend; have faith and walk across the deep. But mind you do not show any want of faith: for then you will be drowned.' The man had tied up the leaf within the folds of his cloth. He went his way, walking on the sea. As he went, he was seized with a desire to look at the writing. He brought out the leaf and read the name of Rāma (God) written large upon it. At this, he thought to himself, 'Only the name of Rāma! Is that

---

34. Sri Lanka.

all?' And on the instant with loss of faith, down he went under the water!

Let one only have faith in the Lord, and, depend upon it, he will reach salvation— no matter if he has committed the vilest of sins— the murder of Brahmins, of woman and the rest! Let him only say 'Lord, I shall not do this again', and take His Hallowed Name.

And the Master sang:

Let me but die, O Mother,  
with Thy Holy Name on my lips.

Then shall I see whether or not  
Thou givest me Liberation at the end.

With Thy Name on my lips I care not if I have killed holy men<sup>35</sup>  
or woman or the child in its mother's womb!

I care not if I have been guilty of drinking wine!  
My sins do not trouble me, even for one moment!

Taking Thy Name indeed  
I may aspire to the very throne of Him<sup>36</sup>  
whom Thou hast appointed to be the  
Creator of the Universe.

### [Narendra and the signs of the Ever-perfect]

The Master now turned to Narendra who was seated before him and said: You all see this boy, so gentle and unassuming. Of course even a naughty boy is gentle in the presence of his father. But he is quite another when he runs about and plays at the *Chāndani*. A boy like this belongs to the class of the Ever-Perfect. (By the *Chāndani* the Master meant the long porch of the Temple next to the landing-ghāt.)

These are never bound by the fetters of this world. When

---

35. Brahmins.

36. Brahma

they get a little older in years, they feel an awakening within the heart and walk Godward at once. They come down into the world as teachers of mankind. They love not the things of this world— their minds never go after 'Woman and Gold.'

There is mention made in the Vedas of a bird called Homā.' It lives high above the clouds away from the din and bustle of this world. There it brings forth an egg which begins to drop as soon as it is brought forth. For days together it goes on falling and is hatched during the fall. Such is the height that the young bird which comes out of the egg goes on falling while it is getting its eyes and wings!

Then it comes to know that it is being carried down with a tremendous force, and that the mere touch of the earth will bring on death. Afraid of being thus dashed against the ground, it suddenly shoots upwards in quest of its Mother who lives so high up above the clouds.

The parent-bird is the Divine Mother who abides above with the Infinite-high up above and beyond the world of the senses. Those of her children who are nearest to Her are these pure young souls to whom life continues to be a mystery until their eyes are opened and they can fly upon their wings. When their eyes are opened, they see clearly the death that is before them— if they only touch the world and the things that are of the world— money, honours, sense pleasures and the rest! The moment their eyes open, they change the course of their life and turn Godward, knowing that the Divine Mother is the one Reality in Whom they live and move and have their being, and to Whom they must always look up for light and life.

At this point Narendra left the room.

Kedār, Prānakrishna, M. and many others were still in the chamber with the Master. The Master still talks of Narendra and smiles as he talks.

Master (*to the disciples*): You see, Narendra excels in everything, be it singing, playing on instruments, or reading and writing. The other day he had a discussion with Kedar. But Kedar's words were chopped off by him as it were as soon as they were spoken. (*The Master and the others present laugh.*)

(To M.): Is there any book in English on the art of reasoning?

M.: Yes Sir, it is called logic.

Master : Well, give me some idea of this book.

It is a sore trial for M. But he plucks up courage and says:

'One part of logic deals with reasoning from general propositions to particulars. Thus:

All men are mortal,  
Pandits are men.  
Pandits are mortal.

Another division deals with reasoning from particulars to general propositions. Thus:

This crow is black,  
That crow is black,  
That other crow is black; and so on.  
Hence all crows are black.

The reasoning by simple enumeration like this is open to fallacy however, for it may be that in some unknown land there may be found white crows.'

Sri Ramakrishna did not appear to pay much attention to these words. It seemed as if they fell flat upon his ear. Thus the conversation on the subject came to an end.



## [The Master in Samādhi]

The meeting broke up. The disciples were walking about the garden. M. walked by himself at the 'Cluster of five trees'<sup>37</sup>.

It is about five in the afternoon. Coming back to the verandah, north of the Master's chamber, M. comes upon a strange sight. The Master is standing still. Narendra is singing a hymn. He and three or four other disciples are standing with the Master in their midst.

M. is charmed with song. Never in his life has he heard a sweeter voice. Looking at the Master M. marvels and becomes speechless. The Master stands motionless. His eyes are fixed. It is hard to say whether he is breathing or not.

This state of divine ecstasy, says a disciple in low tones, is called *Samadhi*. M. has never seen or heard of anything like this. He thinks to himself, 'Is it possible that the thought of God can make a man forget the world? How great must be his faith and love for God who is thrown into such a state!'

The song that was being sung ran as follows:

1. Meditate thou upon the Lord, O my mind!  
 He is the essence of spirit.  
 He is free from all impurity!  
 Without equal is His glory,  
 beautiful is His shape;  
 how much is He beloved  
 in the hearts of His devotees!
2. Behold.  
 His Beauty is enhanced  
 by fresh manifestations of Love!  
 It throws into the shade a million moons!  
 Verily, the lightning flashes out of His Glorious Beauty! The  
 Blessed Vision causes the hair to stand on end.

The Master is deeply touched when this line of the hymn

---

37. Panchavati

is chanted. The hair of his body does actually stand on end. His eyes are bedewed with tears of joy. The smile on his lips shows the ecstatic delight that he feels at the sight of the Blessed Vision. Yes, he must be enjoying a vision of unequalled beauty which puts into the shade the refulgence of a million moons! Is this God-vision? If so, what must be the intensity of faith and devotion, of discipline and austerity which has brought such a vision within reach of mortal man?

The song went on:

3. Worship His Holy Feet on the lotus of thine heart!  
Gaze thou upon the matchless beauty  
of that Beloved Form,  
now that the mind enjoys peace  
and the eyes are filled with Divine Love.

That bewitching smile once more! Behold, his body becomes motionless again! His eyes are half closed and fixed, as it were, on vacancy. It seems as though he beholds some strange vision— of things that are beyond the sense-world— and is thus filled with ecstasy!

The song draws to a close. Narendra sings the last lines:

Inspired with Love Divine be thou immersed, O my mind,  
in the sweetness of Him who is  
the Fountain of Absolute Intelligence and Bliss!

\* \* \*

M. wends his way back home with this unique picture in his mind of Samadhi and the ecstasy of Divine Love. The sweet music which he carried in his heart bubbles up, as it were, from time to time as he goes along:

'Be incessantly merged, O my mind,  
in the sweetness of His Love and Bliss!  
Yes, be thou drunken with the joy of the Lord!'

## CHAPTER IV

### The Disciple Again

The next day is a holiday and M. calls again at about three in the afternoon.

The Master is seated in his chamber. The mat is spread on the floor. Narendra, Bhavanath and one or two other disciples are seated before him, all young men, nineteen or twenty years old. Smiles as before play about his lips. He sits on the lounge and laughing and talking converses with the boys.

M. enters. Looking at him the Master laughs and laughs. He cries out, 'Why, look, There he is again!'

The boys all join in the merriment.

M. falls at his feet. On previous occasions he had saluted the Master with folded hands— after the manner of those persons who had received an English education. But today he has learnt to fall down at his feet. He takes his seat and the Master tells Narendra and the other disciples what has made him laugh. He says:

'Once upon a time a small quantity of opium was given to a certain peacock at four o'clock in the afternoon. Well, punctually at four the next afternoon, who should come in but the selfsame peacock longing for a repetition of the favour— another dose of the opium!' (*laughter.*)

'Yes,' thinks M. to himself. 'He has indeed said well. I go back home, but I leave my heart behind me with this God-Man, the like of whom I have never seen before. Night and day one thought presses me— when shall I see him again? It seems as if a hand draws me to this place. It is impossible for me to go anywhere else or give up the idea of coming here.'

Thinking this M. sat watching the Master as he amused himself with the boys. He kept up a running fire of chaff, and it seemed as if these boys were of his own age and he was playing with them. Peals of laughter and brilliant flashes of humour follow one upon another, calling to mind the image of a fair, where the Joy of the Lord is to be had for sale.

M. marvels at the sight of a personality so unique. He thinks to himself, "Is this the man who was in a state of *samādhi* yesterday and who gave us an example of Divine Love never seen before? Is this the man who took me to task the first time I saw him because I had entered into the married state?" It was he again who rebuked me, saying, 'Do you indeed look upon yourself as one who has attained Knowledge?' Was it he who declared that God is with form and that likewise God is without form? Was it he again who declared that God is the one Reality, all else is unreal, transitory— now is, and the next moment has vanished out of our sight? Was it indeed he who taught the other day, saying, 'Do your work in this world unattached— with your mind turned always to your Home— the Abode of the Everlasting, the Abode of our Divine Mother; even as the maid servant does her work— with her mind dwelling always in her country home, where her own people, her dear ones, reside?'

In the midst of his merriment the Master from time to time looks on M. who is seated speechless, motionless, gazing up into his sweet face!

He says to Rāma Lāla, 'This young man here (M.) is a little older than these boys; that is why he is a little grave. He holds his peace, as you see while they laugh and make merry.' M. is about twenty-seven years old at the time.

## [Renunciation]

The Master talks of *Hanumān*, one of the devout characters of the *Rāmāyaṇa*. How ready is *Hanumān*, says he, to give up everything for the sake of the Lord—money, honours, pleasures of the body and the rest!

The Master sings:

What need have I of sweet fruits?  
I have the Fruit that makes Life fruitful,—  
the fruit of Liberation borne by the Divine Tree<sup>38</sup>  
which is planted in my heart!

I sit down at the foot of this Celestial Tree  
called the Lord<sup>39</sup> of the Universe  
whatever fruits I gather I get from that tree.

Talking of fruits  
let me assure thee once for all,  
I am not one to accept fruits that the world can give.

Thus he is singing of Hanumān's renunciation of the world and its pleasures, and as he sings he loses sense-consciousness.

He is now in a state of *samādhi*— the superconscious or God-conscious state. The body is again motionless! The eyes are again fixed! He is seated just as we see him in the photograph.

The boys only a moment ago were laughing and making merry! Now they all look grave. Their eyes are steadfastly fixed on the Master's face. They marvel at the wonderful change that has come over him. M. sees the Master in *Samādhi* for the second time.

It takes him long to come back to the sense world. His limbs now begin to lose their stiffness. His face beams with smiles, the organs of sense begin to come back each to its

---

38. Kalpa.

39. Rāma

own work. Tears of joy stand at the corners of his eyes. He chants the sacred name of Rāma (God-Incarnate). M. thinks to himself, 'Was it the self-same God-man who was only a few moments back sporting with the boys like a five-year-old child?'

He has returned to his former state and says to M. and to Narendra, 'I should like to hear you both talk in English and question and reason between yourselves.' At these words, both Narendra and M. laugh. They talk, however, but not in English. For M. to take part in any discussion in the presence of the Master is now quite out of the question; the chamber of his mind which formerly furnished materials for such things has been closed now, so to speak, once for all. The Master presses them once more but the talk in English does not come about.

**[With some of his members nearest to his heart]**

It is five in the afternoon. The disciples must go back to their homes and all leave the Temple except Narendra and M. Narendra is going to spend the night with the Master.

He will wash his face, hands and feet; he takes his brass pitcher and goes towards the *jhāu* trees and the Goose-tank—in the northern part of the Temple garden. M. paces up and down the garden path thinking of the extra-ordinary Man whom it has been his good fortune to meet. Walking round the *Kuthi* and coming up to the Goose-tank, he is surprised to find Sri Ramakrishna talking with Narendra, alone, by the tank-side. They stand at the head of the steps leading to the water. Narendra has washed and stands talking, pitcher in hand.

'You see,' says the Master smiling, 'you are a new comer; let not your visits be few and far between. During the first love, the meetings between lovers come oftener than at other

times. Is that not so?' (*Narendra and M. both laugh.*)

The Master smiles and goes on, 'Well then, you should come here oftener. What do you say?'

Narendra smiles and says, 'Yes Sir, I shall try to come.'

The Master turns back and goes in a southern direction towards his chamber.

Narendra and M. walk with him on either side. Coming near the *Kuthi* he says to M., 'Do you know how peasants buy their bullocks for the plough? O they are very expert in these matters and know very well how to choose good bullocks from bad. They know quite well whether the beasts have mettle or not. They touch the tail, and the effect is miraculous. Those that have no spirit, will offer no resistance, but lie down on the ground, as if they were perfectly satisfied. Those that have mettle, on the other hand, will jump about as if to protest against the liberty taken with them. The peasant will choose these. Now Narendra is a bullock of this latter class; he has true mettle within.'

The Master smiles and goes on saying, 'But there are many who have no grit at all in them— who are like popped rice put in milk; soft and loose! No strength within! No capacity for sustained effort! No power of will!'

It is evening. The Master is meditating on God in his own chamber.

Looking up he says to M., 'Will you go and find Narendra who is walking about in the Temple garden, and have a talk with him? You shall tell me what sort of boy he is.'

It is evening and the temple priests are worshipping, waving lights and flowers and other sacred offerings before the Holy Images. M. meets Narendra once more on the river-gāt west of the *Chāndani*. They were, as they both said, very

glad to meet each other. Narendra said, 'I belong to the Sādhāraṇ Brahmo Samāj; I am a college student;' and so on.

**[What do you think of me?]**

It is getting late and M has to take his leave. Something, however, seems to hold him back. Leaving Narendra he looks about for Sri Ramakrishna. The charm of his songs has gone to his heart and he is longing to hear more from his lips. Not finding him in his chamber he directs his steps towards the choir<sup>40</sup> in front of the Sanctuary of the Divine Mother.

The Master is pacing up and down the hall alone, in the dim light. Within the Temple stands the Image of the Mother of the Universe with a brilliant light burning on either side. But the dim light burning in the choir gives just that soft blending of light and darkness which is so very good for religious contemplation.

M. was beside himself with joy when he heard Sri Ramakrishna chanting the name of the Divine Mother. He was spell-bound—like one helpless under the spell of the exorcist!

He draws near the Master and says with great diffidence and humility, 'Are any more hymns going to be sung to-night Sir?'

The Master thinks for a moment and then says, 'No, there will be no more songs to-night. But look, I am coming to Balarām's house in Calcutta one of these days. Come there and you shall hear me sing.'

M.: As the Master pleases.

---

40. Nāta-Mandir, the music hall or choir placed in Hindu temples in front of the sanctuary.



Master: Don't you know the house? Do you know Balarām Bose?

M.: No, Sir; I do not.

Master: Balaram Bose. At Bosepara.

M.: Very well, Sir, I shall make enquiries.

Sri Ramakrishna walks up and down the choir with M.

Master: Well now, let me ask you a question *What do you think of me?*

M. holds his peace— deep in thought.

Master : What do you think of me? I mean, how much, how many *annas*, of True Knowledge have I got?

M.: The meaning of annas of Knowledge is not clear to me. All I can say is : *Never till now has it been given to me to see such marvellous Wisdom, and Love of the Lord, and Faith and Renunciation, and Communion with God, and Catholicity all in one and the same person.* Never— and nowhere else!

The Master laughs.

M. takes his leave and bows down before the Master bending his head and falling at his feet. He comes as far as the northern gate, but turns back as if put in mind of something.

He comes back to the Master, who is still pacing the hall alone.

Yes; walking up and down the hall in that dim light, half-light, half-darkness. Alone. By himself. Companionless! So walks alone in the depths of the forest the king of animals—the Lion— with his Self, the only Companionship<sup>41</sup>! So does the King of Men rejoice to go about companionless in the wilderness of the world!

Awe-struck, speechless, does M. look on the Master! He

41. Ātmārāma

thinks to himself, 'Here is Man's Ideal realised indeed! Man scorning the ground and communing with the Infinite!

Master (to M.): Oh! Why have you come back?

M.: Sir, I am afraid it is some rich man's house to which you ask me to go. There may be porters and other people standing in the way. I think I had better not go. It is here that I should always like to meet with you.

Master: Why, my dear Sir, you have only to mention my name! Say that you desire to *see me*; and do not doubt but someone will lead you to me.

M.: As the Master pleases.

Saying this, M. bows down and departs.



## श्री 'म' ट्रस्ट के प्रकाशन

### 1. श्री म दर्शन

बंगला संस्करण— भाग 1 से 16— स्वामी नित्यात्मानन्द

श्री 'म' दर्शन महाकाव्य में ठाकुर, माँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द तथा अन्यान्य संन्यासी एवं गृही भक्तों के विषय में नूतन वार्ताएँ हैं। और इसमें है कथामृतकार श्री 'म' द्वारा 'कथामृत' के भाष्य के साथ-साथ उपनिषद्, गीता, चण्डी, पुराण, तन्त्र, बाइबल, कुरान आदि की अभिनव सरल व्याख्या।

### 2. श्री 'म' दर्शन

हिन्दी संस्करण— भाग 1 से 16

श्रीमती ईश्वरदेवी गुप्ता द्वारा बंगला से यथावत् हिन्दी-अनुवाद।

### 3. श्री म दर्शन

अंग्रेजी संस्करण— ('M.'— The Apostle and the Evangelist )

श्री 'म' दर्शन ग्रन्थमाला का अंग्रेजी अनुवाद प्रोफेसर धर्मपाल गुप्ता ने 'M.'— The Apostle and the Evangelist नाम से किया है। ट्रस्ट के पास प्रथम बारह भाग तो उपलब्ध हैं। शेष चार भाग अभी मुद्रण-प्रकाशन-प्रक्रिया में हैं।

### 4. Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Centenary Memorial

प्रोफेसर धर्मपाल गुप्ता और पद्मश्री डी०के० सेनगुप्ता द्वारा अंग्रेजी में सम्पादित वृहद् ग्रन्थ, जिसमें ठाकुर श्रीरामकृष्ण, 'कथामृत', श्री 'म' और 'श्री म दर्शन' पर श्रीरामकृष्ण मिशन के संन्यासियों समेत अनेक गणमान्य विद्वानों के शोधपूर्ण लेख हैं।

### 5. A Short Life of Sri 'M.'

स्वामी नित्यात्मानन्द जी महाराज के मन्त्र-शिष्य और श्री 'म' ट्रस्ट के प्रथम सचिव प्रोफेसर धर्मपाल गुप्ता द्वारा अंग्रेजी में लिखी गई श्री 'म' की संक्षिप्त जीवनी।

## 6. Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

प्रोफेसर धर्मपाल गुप्ता द्वारा लिखित श्री 'म' के जीवन तथा 'कथामृत' पर शोध प्रबन्ध।

## 7. श्री श्री रामकृष्ण कथामृत ( हिन्दी संस्करण— भाग 1 से 5 )

श्री महेन्द्रनाथ गुप्त ने ठाकुर रामकृष्ण परमहंस के श्रीमुख-कथित चरितामृत को अवलम्बन करके ठाकुरबाड़ी (कथामृत भवन), कोलकता-700 006 से 'श्री श्री रामकृष्ण कथामृत' का (बंगला में) पाँच भागों में प्रणयन एवं प्रकाशन किया था।

इनका बंगला से यथावत् हिन्दी अनुवाद करने में श्रीमती ईश्वरदेवी गुप्ता ने भाषा-भाव-शैली— सभी को ऐसे सरल और सहज रूप में संजोया है कि अनुवाद होते हुए भी यह ग्रन्थमाला मूल बंगला का रसास्वादन कराती है।

## 8. Sri Sri Ramakrishna Kathamrita (English Edition)

श्रीमती ईश्वरदेवी गुप्ता के हिन्दी-अनुवाद से प्रोफेसर धर्मपाल गुप्ता द्वारा कथामृत का अंग्रेज़ी-अनुवाद। सभी पाँच भाग प्रकाश में आ चुके हैं।

## 9. नूपुर ( वार्षिक स्मारिका )

श्री म ट्रस्ट के संस्थापक और हम सब के पूजनीय गुरु महाराज स्वामी नित्यात्मानन्द जी के 101वें जन्मदिन पर उनकी स्मृति में 'नूपुर' नाम से सन् 1994 ईसवी में इस स्मारिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। उसी स्मारिका ने अब वार्षिक पत्रिका का रूप ले लिया है, जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त ठाकुर रामकृष्ण परमहंस, माँ सारदा, श्री म, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी नित्यात्मानन्द, 'श्री म दर्शन' आदि के बारे में प्रचुर सामग्री रहती है। साथ ही 'कथामृत'कार श्री 'म' के द्वारा 'श्री 'म' दर्शन' में कही उन बातों को भी प्रकाश में लाया जाता है, जो 'श्री श्री रामकृष्ण कथामृत' में नहीं हैं।

